हिन्दी जैन ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क

जैन साहित्यमें विकार।

मूल लेखक—

पण्डित बेचरदासजी।
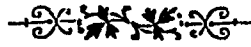
अनुवादक व प्रकाशक—

श्रीयुत तिलक विजयजी।

वैशाख, वीरनिर्वाण संवत् २४५८

मई, १९३२,

मूल्य १।) रुपया] [प्रथमवार १०००

❀ समर्पण ❀

परम पूज्य जंगम तीर्थस्वरूप श्रीमद्वि-जयानन्द सूरीश्वर (आत्मारामजी) महाराज! आपकी ग्रन्थरचना देखनेसे मुझे प्रतीति हुई है कि आप एक उद्धारक पुरुष थे।

यदि आप इस वर्तमानकालमें विद्यमान होते तो अवश्य ही इस गरम हुए लोहेका घाट घड़े बिना न रहते। आप भावाचार्य हैं, थे और रहेंगे। मेरे लिये तो आप सर्वथा परोक्ष ही रहे हैं तथापि आपकी ग्रन्थरचना में मुग्ध होकर मैं यह अपने विचारोंकी माला आपके करकमलोंमें समर्पित करता हूँ।

चरण सेवक, बेचर।

❀ धन्यवाद ❀

इस ग्रन्थमें आर्थिक सहाय करनेवाले महानुभावोंकी शुभ नामावली

१५० जैनसमाजभूषण शेठ ज्वालाप्रसादजी महेन्द्रगढ़
१०० लाला गोकलचन्दजी जौहरी देहली
१०० लाला हजारीमलजी जौहरी देहली
५० बाबू भैरोदान जेठमलजी बीकानेर
५० लाला खैरातीलालजी अच्छुमलजी देहली
५० लाला रतनलालजी पारेख देहली

इन सज्जनोंको हम इस शुभकार्यके लिये अन्तःकरण पूर्वक धन्यवाद देते हैं।

ग्राहकोंकी नामावली

२५ कापी लाला जगन्नाथ दीवानचंदजी गुजरांवाला
२५ ... लाला माणेकचन्द छोटेलालजी गुजरांवाला
२५ ... श्रीसंघ नारोवाल लाला सोहनलालजी व वकील बाबूरामजी
२५ लाला रामरखामल जी बलाचौर
५ .... श्री हरिसागरजी पुस्तकालय लोहावट
५ ... यति श्रीरामपालजी देहली

स्वामी तिलक विजयजी

निवेदन ।

—:⊰⊱:—

जिन सज्जनोंको सामाजिक परिस्थितिका परिज्ञान है वे समझ सकते हैं कि आज जैनसमाजके धर्मगुरुओंकी जो हुक्मीके साम्राज्यमें उनके माने हुए रूढीधर्मके विपरीत और आजकलके धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले सत्यइतिहासको समाजके सामने रखना कितना खतरनाक और उत्तरदायित्वपूर्ण है। जैनसमाज व्यापारी होनेके कारण अपने धार्मिक साहित्य एवं उसके इतिहाससे सर्वथा अनभिज्ञ है और इस विषयकी उसे जिज्ञासा भी पैदा नहीं होती। वह अपने धर्मगुरुओं की वाणीको ही सर्वज्ञकी वाणी मानकर उनकी बतलाई हुई रूढ क्रियाओंके करनेमें ही स्वर्ग प्राप्तिके स्वप्न देख रहा है। धर्मगुरु समाजकी इस अज्ञानताका मनमाना लाभ उठा रहे हैं। उनमेंसे इनेगिने व्यक्तियोंको छोड़कर धार्मिक इतिहासकी शोध करना तो दूर रहा वे स्वयं अपने पूज्यदेव महावीरकी वास्तविक जीवन घटनाओंसे भी अपरिचित हैं। ऐसी दशामें बन्धनोंसे जकड़ी हुई जैनजनता अपने सच्चे इतिहास और सूत्रोंके परिज्ञानसे वंचित रहे तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

मुझे पूर्णविश्वास है कि हमारा धर्मइच्छुक अबोध समाज जो बहुतसी अशास्त्रीय रूढ़ियोंको धर्म समझ कर

मात्र आधुनिक धर्मगुरुओंके इशारे पर ही अन्धकारमें दौड़ रहा है उसमें विचारक और जिज्ञासु मनुष्योंके लिये यह ग्रन्थ अवश्य ही दीपकका कार्य करेगा।

जिन २ विषयोंका इस ग्रन्थमें सप्रमाण प्रतिपादन किया गया है उन विषयोंके सम्बन्धमें जैनदर्शनको मानने वाले मुख्य दोनों सम्प्रदायकी ओरसे आजतक ऐसा एक भी उल्लेख प्रगट नहीं हुआ जो श्वेताम्बर-दिगम्बरवाद, मूर्तिवाद, देवद्रव्यवाद और आगम वाचनवाद की जड़को ढूँढ निकाले और गवेषणा पूर्वक सप्रमाण इन विषयोंपर प्रकाश डाले। लेखक महाशयने इस निबन्ध को लिखकर इस जबरदस्त त्रुटिको पूर्ण किया है इतना ही नहीं बल्कि विचारक जैनसमाजपर महान् उपकार भी किया है।

यह ग्रन्थ आजसे लगभग दसवर्ष पूर्व प्रसिद्ध लेखक पण्डित बेचरदासजीकी प्रौढलेखनी द्वारा गुर्जर गिरामें लिखा गया है। कई इष्टमित्रोंकी प्रेरणासे मैंने इसे हिन्दी भाषा भाषी जैनजनताके लिये अनुवादित किया है। आशा है विचारक जैनसमाज इन बातोंपर विचार करके अवश्य लाभ उठावेगा।

अक्षयतृतीया देहली—

विनीत तिलकविजय।

❁ भूमिका ❁

प्रस्तुत पुस्तकके मूललेखक श्री० पं० बेचरदासजी जीवराज श्वेताम्बर जैनसमाजके गण्यमान्य उदार हृदय विद्वानोंमें से एक हैं। आप प्राकृत, व्याकरणादि अनेक ग्रन्थों के लेखक, अनुवादक, सम्पादक तथा संस्कृत, प्राकृत, पाली, गुजराती बंगला आदि कई भाषाओंके विद्वान हैं। साम्प्रदायिक कट्टरता से कोसों दूर रहते हैं। अभी आप युवक हैं, किन्तु अध्ययन विशाल, भाषा प्रौढ़ और संयत है। अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी हैं जो भी लिखते हैं पूरे अधिकार के साथ, ऊँचे तुले नपे हुये शब्दों में। यही कारण है कि आप विश्ववन्द्य महात्मागान्धी के गुजरात-पुरातत्व-मन्दिरमें एक ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित हैं और वर्तमान असहयोग आन्दोलनमें महात्माजी के कृष्णमन्दिर में जा बैठने पर उनके "नवजीवन" जैसे ज़िम्मेदार पत्रके सम्पादक होनेका गौरव प्राप्त कर चुके हैं।

पुस्तक पढ़ने से मालूम होता है कि विद्वान लेखक के हृदयमें समाज की दयनीय दुरावस्थाके लिये एक टीस है जो उन्हें बेचैन किये रहती है, उनकी आँखोंमें किसी गुप्त वेदना के आँसू हैं जो छुपाने पर भी छलक पड़ते हैं। वास्तव में जिनके पास हृदय है वे संसार को दुःखी देखकर रोते हैं-तड़पते हैं, वे उसे सुखी करने के लिये अनेक विघ्न बाधाओं में गुज़रते हुये मिट जाते हैं, संसार उन्हें जाने या न जाने वे संसार को जान जाते हैं।

आज से दस बारह वर्ष पूर्व विद्वान लेखक ने बम्बई की मांगरोल जैनसभा में पुस्तकमें वर्णित विषय पर एक सार गर्भित व्याख्यान दिया था। आपने कहा था कोई भी धर्म, कलह को पोषित नहीं करता, प्रजा के विकाश की रुकावट नहीं करता और प्रजा के विकाशकारक व्यवहारिक नियमोंमें हस्तक्षेप नहीं करता तथापि वर्तमान युगके धर्मी धर्मको सामने रखकर मानों स्वयं ही धर्मरक्षक न हों, ऐसा समझ कर धर्मके नामसे कलह करते हैं, प्रजाबल को क्षीण करते हैं, युवकोंके विकाश को रोकते हैं और जागृत होती हुई प्रजाको धर्मके हाऊ से डराकर उसे सुला देने का प्रयत्न कर रहे हैं। ·········रक्षा करने वाली बाड़ ही खेतको खारही है। धारण किये जाने वाला धर्म ही उसके आश्रितोंको नीचे पटक रहा है और माता-पिता के समान धर्मगुरुओं को अपनी सन्तान की वेदना-पूर्ण कराहना की ओर दृष्टिपात करने तक का अवकाश नहीं मिलता। वे अनेक यातनायें सहते हुये जीतेजागते जैनियोंकी शोचनीय दशापर दुर्लक्षकर अपने वंशवृद्धि की चिन्तामें लीन हैं,···········

व्याख्यान सुनकर कार्यरूप में परिणित करने की अपेक्षा धर्मके ठेकेदार उपाधिलोलुप महामुनियोंने कुछ विचारशून्य श्रीमन्तों का सहारा लेकर आपको श्रीसंघसे पृथक करा दिया। इस आपत्ति के तीव्र थपेड़े से पण्डितजी तनिक भी विचलित नहीं हुये, वे पर्वतके समान अपने विचारों पर दृढ़ बने रहे। क्योंकि वे जानते थे कि "सर्वथासत्य, प्रकटसत्य, शुध्दसत्य

एक ऐसा भारी रसायन है जिसे मनुष्य मात्र झेल नहीं सकता" जिस प्रकार शेरनी का दूध कंचनके सिवा अन्य किसी पात्रमें नहीं ठहर सकता वैसेही शुद्धसत्य भास्करके तेजस्वी प्रकाश को साधारण मानव, जिनके नेत्र अन्धविश्वासरुप पीलिये रोगसे विकार युक्त होगये हैं नहीं झेल सकते।

आपने पुनः एकबार अपने दिये हुये व्याख्यान को परीक्षा की, कसौटी पर कसा, अत्यन्त परिश्रम पूर्वक इस विषयका अध्यन किया। उत्तरोत्तर विचारों की पुष्टि होती गई और जो भी जैनग्रन्थ-रत्नाकर में गहरे उतरकर आपने खोज की वह पुस्तक रूपमें पाठकोंके सामने रख दी। साहसी विद्वानने जिस निर्भीकता के साथ जैनसमाजको अन्धविश्वास, एकान्तवाद, गुरुडमवाद श्वेताम्बर दिगम्बरवाद, चैत्यवाद, देवद्रव्य-वाद और आगमवाद के अँधेरेकूप में से निकालनेके लिये जो भगीरथ प्रयत्न किया है वह अवश्य ही सराहनीय है।

मैंने पुस्तकको आद्योपान्त बड़े चावसे पढ़ा है। लेखकने समाजकी वर्तमान पतितावस्था का मूलकारण जैनसाहित्यमें उत्पन्न हुआ विकार माना है। वास्तव में साहित्य ही देश और समाज का जीवन होता है। इसीलिये वह अत्यन्त आदरणीय प्राणोंसे अधिक मूल्यवान और सब वस्तुओंमें श्रेष्ठ समझा जाता है। पर दुर्भाग्यवश संसारके परिवर्तन के साथ साथ हमारे जैन-साहित्यमें कुछ भी ऐसा अनर्थकारी परिवर्तन हुआ है जो हमारे लिये हितकर नहीं। इसी विकारयुक्त परिवर्तन की समालोचना करते हुये प्रस्तुत पुस्तकमें १श्वेताम्बर दिगम्बरवाद

२ चैत्यवाद, ३देवद्रव्यवाद, और ४आगमवाद जैसे आवश्यकीय और महत्वपूर्ण विषयों पर विवेचन किया गया है। मालूम पड़ता है पुस्तक लिखते हुयं लेखक महोदय रोये हैं। उनका युवक-हृदय समाज की संतप्त अवस्था देखकर उबल पड़ा है। उसी आवेशमें श्वेताम्बर दिगम्बरवाद नामक स्तम्भमें लिखा है:-'इन शब्दोंकी (श्वेताम्बर, दिगम्बर) प्रवृत्ति चाहे जब हुई हो, परन्तु उसका मूलकारण हमारे मुनिराज ही होने चाहियें। इन शब्दोंके मूल प्रवर्तक साधु-मुनियों को वर्तमान सरकार की ओर से धन्यवाद मिलना चाहिये, कि जिसके परिणाम में वह अदालतोंके द्वारा दोनों समाजोंसे लाखों रुपया कमारही है।''''''श्वेताम्बर और दिगम्बरता की दीवार केवल आग्रह की नीवपर ही चिनी गई है।''''''दोनों सम्प्रदायोंमें जो भीषण मतभेद देख पड़ता है उसका मूलकारण दोनों सम्प्रदायके पूर्व धर्मगुरुओं और आज-कलके कुलगुरुओं का दुराग्रह, स्वाच्छन्द्य, शैथिल्य और मुमुक्षताका अभाव इत्यादि के सिवा और कुछ नहीं हो सका '''मुझे अपने इस बदनसीब समाज की दुर्दशाका चित्र खींचते हुये बड़ा दुःख होता है।" लेखकके कैसे हृदयग्राही शब्द हैं ?

चैत्यवाद नामक दूसरे स्तम्भमें लिखते हैं:—हमारा समाज मूर्तिके ही नामसे विदेशी अदालतों में जाकर समाजकी अतुल धन सम्पत्ति का तगार कर रहा है।'''वीतराग सन्यासी फकीर की प्रतिमाको जैसे किसी एक बालकको गहनों से लाद दिया जाता है उसी प्रकार आभूषणों से शृंगारित कर उसकी शोभामें वृद्धि की समझता है और परमयोगी वर्द्धमान या

इतर किसी वीतराग की मूर्तिको विदेशी पोशाक, जाकिट, कालर, वगैरह से सुसज्जितकर उसका खिलौने जितना भी सौन्दर्य नष्ट भ्रष्ट करके अपने मानव समाज की सफलता समझ रहा है।...मैं इसे धर्मदम्भ और ढोंग समझता हूं। अपने इस समाज की ऐसी स्थिति देखकर मूर्तिपूजकके तौरपर मुझे भी बड़ा दुःख होता है।" चोट खाये हुवे पखावज़ के समान लेखकके चुटीले हृदयसे यह शब्द बलात् निकले हैं।

देवद्रव्यनामक तीसरे स्तम्भमें लिखा है:-"इसके कारण ही आज जैनसमाज की प्रशंसा वकीलों बैरिष्टरों और अदालतों में गाई जा रही है और प्रतिदिन समाज क्षयरोगसे पीड़ित रोगीके समान विकराल कालकी तरफ खिंचा जा रहा है।... मुझे सिर्फ इसी बातका खेद होता है कि जिन पवित्र निर्ग्रन्थोंने लोकहित की दृष्टिसे जिस वादको नियोजित किया था वही वाद आज हमें अपना ग्रास बना रहा है। अहो !! कैसा भीषण परिवर्तन !! कैसा पैशाचिक विकार !! और अनेकान्तवादकी मुद्राछापवालों का भी यह कैसा भयकंर एकान्तवाद है" !!! यह लेखककी हृद्तंत्रीकी झंकार है जो अपने समाजकी क्षुब्ध, पीड़ित एवं संत्रस्त अवस्था से विलोड़ित होनेपर गूँज निकली है।

आगमवाद के स्तम्भमें अनेक ग्रन्थों की समालोचना करते हुये लिखा है-"वर्तमान समयमें इस प्रकार की अनेक कथाओं द्वारा उपाश्रयों में बैठकर रेशमी, खीनखाब और ज़रीके तिगड़ेमें पाटपर विराजमान होकर हमारे कुलगुरु श्रोताओंको

रंजित कर रहे हैं। आश्चर्य तो यह होता है कि व्यापार विद्यामें अतिनिपुण वणिक समुदाय विना विचार किये धन्य-वाणी और तहत्त वचनकी गर्जनायें किस तरह करता होगा ?"

चारों स्तम्भके लेख अत्यन्त अनुसन्धान और गवेषणापूर्वक लिखे गये हैं। शुष्क और नीरस विषय होते हुये भी प्रवीण लेखक ने अपनी वशीकरण लेखनी द्वारा उसे अत्यन्त रुचिकर बनाया है। उन्होंने जैनसाहित्य की निष्पक्ष विद्वतापूर्ण समालोचना की है। सम्भव है विचारशील पाठक विद्वानलेखककी युक्तियोंसे पूर्णरूपेण सहमत न हों, वे कितने ही स्थानोंमें मत-भेद रखते हों। मतभेद बुरी चीज़ नहीं, यदि वह सभ्यता की सीमा का उलंघन न करे। विश्वास अच्छी चीज़ है किन्तु अन्धविश्वास हानिकारक है। अन्धविश्वासी विवेक शून्य मनुष्योंने संसारमें अनेक अनर्थ उपस्थित किये हैं, संसार की सुखशान्ति को नष्ट करके उसे नर्कतुल्य बना डाला है। इसीलिये जैनदर्शन अन्धविश्वासको, पक्षपातको स्थान नहीं देता १। जो भी बात हो वह परीक्षा की कसौटी पर कसी जानी चाहिये २ रूढ़िभक्त, अन्ध विश्वासी अथवा लकीर के फकीर बने रहने वाले समाज की इस वैज्ञानिक युगमें मिट्टी खराब है। जैन धर्म परीक्षा प्रधानी धर्म है, उसके अनुयायी अन्धविश्वासी अथवा पक्षपाती बने रहें, यह शोभा नहीं देता। अन्धविश्वासी समाज नास्तिकता, कायरता, परतन्त्रता आदि के बन्धनमें जकड़ जाता है ३ अतः समाजकी वर्तमान दुरावस्थाका सुधार करने के लिये जैनसाहित्यमें उत्पन्न हुये विकार को अनेका-

न्तवाद की पवित्र सरिता में धोने के लिये कटिबद्ध हो जाना चाहियें। व्यवहार कुशल व्यापारनिपुण जैनसमाजको भविष्य में आनेवाली आपत्तियोंके प्रतिकारका अभीसे उपाय करलेना चाहिये। प्रतिवर्ष लाखों रुपया धार्मिक मुकद्मेबाज़ी में व्यय करने वाली मन्दिरोंकी दीवारों पर मनो सोना लिपवाने वाली. लाखों रुपया रथयात्रामें बहानेवाली और असंख्यधन मुनिवंशियोंके लिये लुटा देने वाली जैनसमाज "इकबाल" के इस शेरको विचार पूर्वक पढ़े और समझे।

अगर अब भी न समझोगे तो मिट जाओगे दुनियामे।
तुम्हारी दास्तां तक भी न होगी दास्तानोंमें॥

हिन्दी भाषा भाषियों को ऐसी अनुपम पुस्तक पढ़नेका सौभाग्य प्राप्त होगा, इसके लिये अनुवादक महोदय धन्यवाद के पात्र हैं।

पहाड़ी-धीरज, दिल्ली।
ज्येष्ठ कृष्णा ५ वी० नि० सं० २४५८

अयोध्याप्रसाद गोयलीय "दास"

---

१. पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्यकार्यः परिग्रहः॥
—श्रीहरिभद्रसूरि।

२. आग्रहीबत ! निनीषति युक्तियत्रतत्र मतिर्यस्य निविष्टा ।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्रतत्र मतिरेति निवेशम ॥

३. निबल, निरुद्यम, निर्धनी, नास्तिक निपट निराश ।
जड़, कादर कर हेतु है, नरहिं अन्धविश्वास ॥

विर्योगी हरि

अर्थात्—खेद है कि हठग्राही मनुष्य युक्ति को खींचखाँच कर वहाँ लाता है जहाँ पहिले से उसकी मति ठहरी हुई होती है। परन्तु एक पक्षपात रहित मनुष्य की ऐसी नीति नहीं होती वह अपनी मति को वहाँ ठहराता है जहाँतक युक्ति पहुँचती है अर्थात् उसकी मति प्रायः युक्तिअनुगामी होती है।

जैन साहित्य में विकार
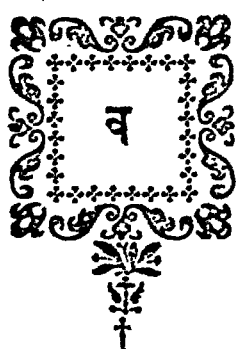
वस्तु की मूल स्थिति को समझे विना उसकी विकारवाली स्थिति को समझना या समझाना कोई सुगम बात नहीं है। जिसे अपनी पूर्व स्थिति की ताजी स्मृति हो वही मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति में हुये परिवर्तन को समझ सकता है। शारीरिक विकार को समझने के लिये प्रथम पूर्ण निरोग स्थिति का अभ्यास करने की आवश्यकता होती है। वैरूप्य की विभीपिकायें से उत्तीर्ण होने के लिये सौन्दर्य के सागर का विशेष अवगाहन करना पड़ता है, एवं साहित्य की विरूप स्थिति को समझने से पहिले उसकी विशुद्ध स्थिति को भी समझना आवश्यक है।

साहित्य कोई हमारे समान बोलने चलने वाला या जीता जागता प्राणी नहीं है इस कारण हम उसकी विशुद्धता या विकृतता का निर्णय उसके पूर्व कर्मपर नहीं छोड़ सकते। साहित्य अन्य पदार्थों के समान उत्पाद्य पदार्थ है इस लिये उसकी शुद्धि या विकृति का जवाबदार उसका उत्पादक ही हो सकता है। जिस तरह पुत्रके गुण दोषों का जवाबदार उसका पिता कहलाता है और वृत्तका भला या बुरा भविष्य उसके बीजमें छिपकर रहता है वैसे ही साहित्य की विशुद्धता या विकृतता का विशेष आधार उसके रचयिता की स्थिति पर ही अवलम्बित है।

भाषामें साहित्य शब्द दो तीन अर्थको सूचित करता है। साहित्य शब्दसे उपकरण या साधन लिये जाते हैं। साहित्य का अर्थ रस शास्त्र–काव्यप्रकाश, काव्यानुशासन, साहित्यदर्पण वगैरह होता है और किसी भी प्रकार के शास्त्र यथा बौद्ध साहित्य, वैदिक साहित्य या सांख्य साहित्यादि भी उसके अर्थ होते हैं। इस प्रस्तुतचर्चामें अन्तिम अर्थको विशेष स्थान मिल सकता है। साहित्य

विचारात्मक और शब्दात्मक एवं दो रूपमें होता है। जब तक हृदयगत हो, प्रगट न किया गया हो तब तक वह विचारात्मक साहित्य कहलाता है और जब वह मुखद्वारा शब्दों के तरह तरह के वस्त्रों में एवं कल्पना, अतिशय या उत्प्रेक्षा वगैरह के अलंकारों में सुसज्ज होकर गगनमंडलमें प्रगट हो तब वह शब्दात्मक साहित्य कहलाता है और यही शब्दात्मक साहित्य जब कागज़ों पर लिपि बद्ध किया जाता है, तब इसे शास्त्रके नामसे पहचानते हैं। मैं यहाँ पर आपको जो विकार या विशुद्धि बतलाऊंगा, उसका विशेष सम्बन्ध ऐसे ही लिपिबद्ध जैन साहित्य-शास्त्रोंके साथ है।

जैन शास्त्र की पूर्ण उत्तर दायिता उसके मूल जनक, ग्रन्थक, या संकलित करने वाले पर अवस्थित है। जैन साहित्य के मूल जनक तीर्थङ्कर, ग्रन्थक, गणधर, लेखक अर्थात् प्रथमतया वहीखाते पर चढ़ाने वाले-पुस्तका-कार रूप देने वाले श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रम-णादि पूर्वाचार्य माने जाते हैं। इस विषय को पूर्णतया समझने के लिये हमें इन तीनों

महापुरुषों का इतिहास; उनके समय की परिस्थिति और उनकी जीवन दशा पर विचार करने की आवश्यकता है। साम्प्रदायिक ममत्वमयी दृष्टिसे कदाचित् जैन शास्त्र अनादि सिद्ध माने जाते हों या अकृत्रिम व अपरिवर्तित रहते हों तो इससे हमें कोई आपत्ति नहीं। यह बात ऐतिहासिक हो या उसमें साम्प्रदायिकता-जन्य सत्यासत्य का तत्व मिला हुआ हो इसके साथ हमारा कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। तथापि जहाँ तक मैं जानता हूँ शास्त्रोंकी शाश्वतता सिद्ध करने वाला* सम्प्रदाय भी इतनी बात स्वीकृत करनेकी हिम्मत करता है कि जिस जिस तीर्थङ्कर के समय उनके विचार शब्दबद्ध होते हैं उसवक्त उसमें पूर्वकाल की स्थिति और नामोंकी जगह वर्तमान कालकी स्थिति और नामोंको नियुक्त किया जाता है।

---

*सम्प्रदायकी तो ऐसी भी इच्छा हो सकती है कि हमारे ही शास्त्र सब से अनादि हैं याने हमारी दुकान और हमारा बहीखाता पृथ्वीके साथ ही निर्माण हुआ है। परन्तु वर्धमान के नामपर प्रचलित प्रवचन में जगह जगह उनके समय की परिस्थिति, उनका पंचयामी आचार, उनके समय के मनुष्यों

इस दृष्टि से शास्त्र पौरुषेय हैं, परिवर्तित हैं और अनित्य हैं। इस मान्यता की नींव पर साहित्य विकार के साथ सम्बन्ध रखने वाला मेरा प्रस्तुत प्रश्न युक्त गिना जाय तो इसमें जरा भी अनुचित न होगा। इस प्रश्न को विस्तार पूर्वक समझाने के लिये वर्तमान

के उल्लेख और उन्होंकी स्वाध्याय चर्चा, उनके सम समयी जमाली, गोशालक, हस्ती तापस और बुध्ददेव जैसे प्रखर वादियों के खण्डन मण्डनात्मक संवाद, तथा स्कन्दक, सुधर्मा, जम्बू, गौतम, श्रेणिक, चेल्लणा, कोणिक, धारणी, सिध्दार्थ, त्रिशला, जयन्ती, मृगावती, सुदर्शन, उदायी, आनन्द, कामदेव, और चूलणी पिता वगैरह वर्धमान के सम समयी अस्तित्व रखने वाले पुरुषों के नाम निर्देश मिलने से सम्प्रदाय को या उसके संचालकों को अपनी अनादिता के बचाव के लिये ही उपर्युक्त उपाय लेना पड़ा है और उसका उल्लेख सूत्रकृतांग सूत्रकी टीकामें शीलांक सूरिने और व्याख्या प्रज्ञप्तिकी टीकामें अभयदेव सूरिने किया भी है—

देखो सूत्र० पृ० ३८६ और भगवती पृ० १६५ अजीमगंज-वाला। यदि इस सम्बन्ध में इतिहास को पूछा जाय तो वह स्पष्टतया और सप्रमाण बतला सकता है कि जैसा वात्स्यायन सूत्र अनादि हो सकता है वैसे ही यह प्रवचन भी अनादि का सम्भवित हो सकता है।

शासन के नायक श्रीवर्धमान का इतिहास, उनकी जीवन दशा और उनके समय का वातावरण इत्यादि के उल्लेखको मैं सबसे पहले स्थान देना उचित समझता हूँ। जिस समाज को मैं प्रकृत विषय का परिज्ञान कराना चाहता हूँ। वह समाज भगवान वर्धमान के नामसे, गुणसे, रूपसे, और उनके स्थूल जीवन से सुपरिचित है। उसकी श्री वर्धमान के प्रति इतनी अटूट भक्ति है कि प्रतिवर्ष समाज के बालक तक भी अपने पूज्य पुरुषके जीवन को एक दफा सुनने में आलस्य नहीं करते। उसके नामके लिये लाखों रुपयोंका होम किया जाता है, उसकी स्थापना—मूर्तिके वास्ते करोड़ों रुपयों का व्यय किया गया है और वह खर्च वर्तमान समय में भी प्रचलित ही है। ऐसे श्री वर्धमान भगवान का जैन समाज को परिचय देना यह माताके पास मौसाल की प्रशंसा करने जैसी पुनरुक्ति मात्र है। यद्यपि जैन समाज श्री वर्धमान के साथ इतना गाढ़ परिचय रखता है, तथापि मैं हिम्मत पूर्वक इतना कह सकता हूँ कि वर्तमान श्रद्धालु वर्ग उस महा पुरुषके अन्तर्गत जीवन से या वास्त-

विक जीवन से बहुत कम परिचय रखता है। ऐसा होनेसे ही श्री वर्धमान की मूर्तिके लिये अतुल धन खर्चने वाले श्रीमन्त या उपदेशक-मुनि उनके यथास्थित जीवन पथ पर गमन करने या कराने के लिये इस युगमें भी अशक्त ही रहे हैं। जिन्हें प्रथमसे ही पुरानी दन्त कथाएँ, मिश्र कथाएँ या बड़ी बड़ी बड़ाई की बनावटी बातें सुनने की आदत पड़ गई है और जिनके बुजुर्गों की तरफ से भी उसी आदत को पुष्टि मिलती जा रही है वे किसी भी ऐतिहासिक सत्य-यथार्थ सत्य की तरफ लक्ष्य करें यह एक मुश्किल सी बात है।

जैन समाज विशेषतः व्यापारी होनेके कारण धार्मिक इतिहास की ओर कदाचित् ही दृष्टिपात करता है। व्यापार और निर्वाह की प्रवृत्ति की तीव्रता के लिये एवं उसमें विशेष सावधान रहने की आवश्यकता के कारण निरवकाश जैनियों को सत्य गवेषणा के लिये बहुत ही कम समय मिलता है। सत्य गवेषणा की बात तो दूर रही परन्तु वे अपने आरोग्य के लिये, अपने सगे सम्बन्धियों के स्वास्थ्य सुधार के लिये, अपनी सन्तानों की शिक्षाके वास्ते

और अपना जीवन घड़नेके लिये भी घड़ीभर विचार करने का समय नहीं निकाल सकते। इसी कारण उनके राष्ट्रीय जीवनका भी विकाश नहीं हुआ मालूम होता। इससे उनके धार्मिक जीवन या व्यवहारिक जीवन के नियमों का आधार जैन समाज के धर्मोपदेश-कों-साधु मुनियों की देशना पर जिन्हें समाज अपने सर्वस्व का भोग देकर पोषित कर रहा है अवलम्बित है। यदि वे उपदेशक विशुद्ध मार्ग बतलावें तो यह समाज उस मार्गकी तरफ झुक सकता है अन्यथा नदी प्रवाह के समान गतानुगतिक से गमन कर रहा है और ऐसे ही करता रहेगा। यदि मेरी भूल न होती हो तो जहाँतक मैंने समझा है ऐसा निःस्वार्थी उपदेशक क्वचित् ही देखने में आया है कि जो चतुर वैद्यके समान समाज की नबज देखकर उसे उस रोगके अनुसार उपदेश रूपी औषधि प्रदान करता हो। यदि ऐसी परिस्थिति में श्रीवर्धमान का अनन्य उपासक समाज श्रीवर्धमान के यथास्थित जीवनसे अपरिचित रहे तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस बातका पूर्ण उत्तर दायित्व धर्मादा

जीवी उपदेशकों पर ही है। यहाँ पर श्रीवर्धमान के यथावत् जीवन का उल्लेख करने में हमें अन्य आवश्यक बातों को संक्षिप्त करना पड़ेगा और वह उनका जीवन इतिहास विशेष गम्भीर होनेसे उसका उल्लेख एक दूसरे निबन्ध में करने का विचार किया है। श्रीवर्धमान के समय की परिस्थिति के कितने एक खास अभ्यासी विद्वानों ने उस विषय में जो विचार प्रगट किये हैं उन्हें मैं नीचे उद्धृत करता हूँ।

"महावीर ने डिण्डिम नादसे भारतवर्ष में मोक्षका यह सन्देश विस्तृत किया था कि धर्म सामाजिक रूढ़ी मात्र नहीं किन्तु वास्तविक सत्य है, मोक्ष साम्प्रदायिक बाह्य क्रिया काण्ड पालन करने से नहीं मिलता परन्तु सत्यधर्म के स्वरूप में आश्रय लेनेसे प्राप्त होता है और धर्ममें मनुष्य एवं मनुष्यके बीचका भेद स्थायी नहीं रह सकता"—साहित्य सम्राट श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर—(महावीर जीवन विस्तार पृ० सं० १२)

२५०० वर्ष पहले आर्यावर्त्त की स्थिति ऐसी थी—धर्मकी यथार्थ भावनाका नाश हो जाने पर उसका स्थान अर्थ हीन आचार विचारों ने

ग्रहण किया था। उत्तम सामाजिक और नैतिक नियम, दुष्ट जाति भेदसे ब्राह्मणों के लिये विशेष अधिकार और शूद्रों के लिये घातक प्रवृत्ति से विकृत हो गये थे। इस प्रकारके जाति जन्य विशेष अधिकार से ब्राह्मणों की स्थिति प्रत्युत खराब होगई थी। समस्त समाज के तौरपर वे इतनी हद तक लोभी और लालची, अज्ञान अभिमानी बन गये कि ब्राह्मण सूत्रकारों को भी इस वस्तु स्थितिकी कड़ी भाषा में टीका करनी पड़ी थी। जिन शूद्रोंने आर्य धर्मके छत्र नीचे आश्रय लिया था, उनके लिये धार्मिक शिक्षण और व्रत क्रिया आदिका निषेध किया गया था। सामाजिक सन्मान तो उनके लिये बिल्कुल उठ गया था। जिस समाज में वे निवास करते थे उस समाजकी तरफ से धिक्कार और तिरस्कार पानेके कारण वे कुछ परिवर्तन के लिये आतुरता पूर्वक राह देख रहे थे"—दत्त महाशय (महावीर जीवन विस्तार पृ० ९—१०)।

श्री उत्तराध्ययन सूत्रमें यज्ञीय, और हरिकेशीय, अध्ययन उपरोक्त विषय का समर्थन करते हैं। उन अध्ययनों में ब्राह्मणों के लक्षण बतलाये गये हैं और साथ ही यह

बात भी स्पष्टतया दर्शाई है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, यह कोई किसी तरह की जातियां नहीं हैं, परन्तु क्रिया जन्य उपनाम मात्र हैं—(देखो उत्तराध्ययन सूत्रका २५ वां और १२वां अध्ययन)।

वर्धमान की जीवन दशा और उनके समय की परिस्थिति परसे हम उनका लक्ष्य या ध्येय सहज ही में समझ सकते हैं। निम्न लिखित एक ही वाक्यमें उनका ध्येय समा जाता है। आचाराङ्ग सूत्रमें श्री वर्धमान के सन्देशवाही सुधर्माने श्री वर्धमान का ढिंढोरा इस प्रकार सुनाया है।

"सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्ख पडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं"।

अर्थात् सब जीव आयुष्य और सुखको चाहते हैं, दुख और मृत्यु सबको अप्रिय है, हर एक प्रियजीवी हैं और जीनेकी वृत्ति रखते हैं, जीना सबको प्यारा लगता है (आचाराङ्ग सूत्र मोर्वी वाला पृ० सं० २१) परम योगी वर्धमान

स्वभाव से दयालु न थे और न ही अदयालु थे। उन्हों की दशा उदयगत प्रयोग जैसी थी। वे अत्यन्त मित भाषी–वाचंयम थे। उन्होंने अपने जीवन में यथाख्यात मार्गको ही अवलम्बित किया था। आपद्धर्म के नामसे अपनी रक्षाके लिये उन्होंने एक भी छूट न रक्खी थी। शरीर, वचन और मन ये तीनों ही उनके दास बने हुये थे। जैसे एक यंत्रकार यंत्र पर अपनी सत्ता चला सकता है और इच्छानुसार यंत्रको फेर सकता है, उसी तरह श्री वर्धमान ने भी शरीर, वचन और मनसे अपनी इच्छानुसार कार्य लिया था। यदि शरीर के किसी भागमें खुजली होती तो वे खुजाते तक भी न थे, शरीर परसे मैल दूर करने की वृत्ति तक भी न रखते थे, शक्यतया आंखें भी निर्निमेष रखते और सम्पूर्ण नग्नभाव धारण करके उन्होंने लोकलज्जा जीतने का उग्र प्रयत्न सेवन किया था। इस दशामें उत्तीर्ण होनेके लिये वे आरंयक–अरण्यवासी बने और बहुत लम्बे समय तक उन्होंने कठिन से कठिन ठण्डी, ताप, भूख और तृषा आदि कठिनाइयों का सामना किया था। उन्होंने दीक्षित होते ही लोक प्रवाह के

अनुसरण का परित्याग किया था और अपने अनुयायियों को संदेश सुनाया था कि णो लोगस्सेसणं चरे याने लोकैषणा—लोकवाद का अनुसरण न करना, अर्थात् दुनियां की देखा देखी गतानुगत की लकीर के फकीर न बनना (आचाराङ्ग सूत्र मोर्वी वाला पृ० सं० ८४)।

दीर्घ तपस्वी श्री वर्धमान और बुद्ध दोनों समसामयिक महात्मा थे, दोनों निर्वाणवादी महापुरुष थे और दोनों का एक ही लक्ष्य था। परन्तु लक्ष्य को सिद्ध करने की दोनों की प्रवृत्ति सर्वथा जुदी जुदी थी। बुद्ध मध्यम मार्गके उपासक और वर्धमान तीव्र मार्गके हिमायती थे। बुद्धने अपनी मार्ग व्यवस्था में जनता के श्रेयको प्रथम स्थान दिया था, वर्धमानने जनताके संस्पर्श तक का भी त्याग किया था। वर्धमान अपनी रहनी और कहनी में एक ही थे, उन्हें इस बातपर आग्रह कदापि न था कि मैं जो कहता हूँ वही सत्य है और दूसरे का कथन सर्वथा मिथ्या है। वे इस बातको मानते थे कि एक ही लक्ष्य को सिद्ध करने के अनेक साधन हो सकते हैं, इससे साधन भेदमें विरोध की गंध तक भी नहीं

होती। उनके समय में उनका अनुयायी वर्ग एक लक्ष्यी था, परन्तु उन सबके मार्ग जुदे जुदे थे। कोई मुमुक्षु निराहारी रहता, कोई भोजन भी ग्रहण करता, कोई सर्वथा नग्न अवस्था सेवन करता, कोई सवस्त्र भी रहता था। कोई स्वाध्यायी था, कोई विनीत था और कोई ध्यान में ही मग्न रहता था। एवं आत्मा को स्वस्थ करने के अनेक मार्ग थे, परन्तु लक्ष्य सबका एक ही आत्म स्वास्थ्य था। प्रत्येक प्राणीकी शारीरिक, वाचिक और मानसिक स्थिति भिन्न भिन्न होने के कारण सब अपने २ अनुकूल और प्रकृति सात्म्य वाले मार्गका अनुसरण करते थे। उस समय वर्तमान के जैसी किसीकी एक हथ्थू सत्ता न थी कि जिससे सबको एकही प्रवाह में बहना पड़े। मुमुक्षु ज्यों ज्यों विशेष योग्यता प्राप्त करते, त्यों त्यों अधिकाधिक वे उच्च साधनको अवलम्बित करते, किसीपर किसी का अमर्यादित दबाव न था। उनके अनुयायी वर्गका यह प्रघोष था कि धम्मो मंगल मुक्किठ्ठं अहिंसा संजमो तवो। अर्थात् अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म उत्कृष्ट मंगल है (दशवैकालिक सूत्र प्रारंभ) इस प्रघोष में कहीं भी एक देशीयता

की गंध तक नहीं इसपर से श्री वर्धमानकी जीवन दशा, उनके समयकी परिस्थिति और उनका ध्येय हमारी समझ में आसकता है। अब हमें उनका शास्त्र साहित्य, उसकी मूल स्थिति और वर्तमान कालमें देखपड़ती विकृत स्थितिके सम्बन्ध में विचार करना चाहिये। यहाँ पर इस विषय में विशेष चर्चा करने से पहले मुझे मूल स्थिति और विकृत स्थितिके सम्बन्ध में इस प्रकार खुलासा करदेना उचित होगा कि जो महापुरुष मुख्य मार्गका प्रवर्त्तक है, उसका लक्ष्य और साधन जिसमें यथास्थित रीत्या अनाग्रही तथा संकलित किये गये हों वह रचना शैली मूल स्थितिकी और जिस रचना शैलीमें लक्ष्यकी ओर दुर्लक्ष्य करके मात्र साधनों की ही तकरारों का कोलाहल देख पड़ता हो वह विकृत स्थिति समझना चाहिये। यह निबन्ध पूर्ण होते तक मेरा यह लक्षण पाठकों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिये। अब मैं श्री वर्ध-मान के समय की रचना शैली की तरफ आपका ध्यान खींचता हूँ।

आज से २५०० हज़ार वर्ष पहिले जब वर्ध-मान स्वयं विद्यमान थे तब आजके समान

उपदेश प्रचार के लिये आवश्यक साधनों का अभाव था। यद्यपि लेखन कला तो उस वक्त भी अस्तित्व रखती थी, परन्तु उसका उपयोग विशेषतः व्यवहार विभाग में ही प्रचलित था। मुमुक्षु, श्रमणोपासक-श्रावकों और श्रमणोंमें सत्संग की प्रवृत्ति प्रचलित थी। जब वे वर्धमान के पास या अन्य किसी बड़े श्रमण के पास जाते तब वह महात्मा श्रोताकी योग्यता के अनुसार उसके हितकी दो चार बातें विधेय रूपसे-(ऐसा करो ही यह नहीं परन्तु ऐसा करना चाहिये इस रीति से) प्रदर्शित करते और श्रोताजन उनहित की बातोंको स्वनाम के समान याद कर लेते थे। जिन बातोंमें अपना विशेष हित समाया हो उन बातोंको पत्तों या कागज़ों पर लिख लेनेकी अपेक्षा मंत्रके समान हृदय में अङ्कित कर रखना विशेष उचित है यह समझ कर भी वे उपदेश को न लिखते लिखाते हों यह बात सम्भवित है।

श्री वर्धमान के मुख्य शिष्योंने अपने अनुयायियों को सिखलाने के लिये वर्धमान के उन उपदेशों को संक्षेप में संकलित कर रक्खा था और सो भी कण्ठाग्र ही रहता था। जब

कभी प्रसंग आता तब श्री वर्धमानने ऐसा कहा है या श्री वर्धमान के मुखसे ऐसा सुना है इस रीतिसे उन उपदेशों का विवेचन या व्याख्यान किया जाता था। वे सब उपदेश पालीभाषा के समान उस समयकी लोकभाषा—मागधी मिश्रित प्राकृत भाषामें होने के कारण समस्त जनता को समझने में सुगम और सुलभ होते थे, एवं श्रावक, श्राविका, साधु या साध्वीको शक्तिके अनुसार न्यूनाधिक प्रमाण में कण्ठस्थ रहते थे। वर्तमान समय में जिसे हम एकादशांग सूत्र कहते हैं उसके वे मूल उपदेश थे। वे मूल उपदेश और वर्तमान एकादशांग सूत्र, इन दोनोंमें काल क्रमेण भाषा दृष्टि और अर्थ दृष्टिसे कितना परिर्वन हुआ और वैसा होने के कारणों के सम्बन्ध में मैंने एक खास जुदा निबन्ध लिखा है। उसका कितना एक विशेष उपयोगी विभाग नीचे टिप्पण में देता हूँ *

जैन दर्शन नित्यानित्यवाद का समर्थन करता है, उसकी दृष्टिसे वस्तुका मूल तत्त्व

---

* जो अंग साहित्य इस वक्त हमारे सामने विद्यमान है वह अनेक परिवर्तनों को प्राप्त करता हुआ किन किन

कायम रहता है और उस मूल तत्त्वकी परि-स्थिति के अनुसार अनेक रूप परिवर्त्तित होते रहते हैं। यह परिवर्तन व्यवहारिक और उपयोगी भी है, किन्तु आकाश मूर्त्त रूप धारण करे और जड़ चेतन रूपमें परिणत हो ऐसे सर्वथा मिथ्यावाद का जैन दर्शन प्रबल विरोध करता है। इसका यह कारण है कि इस सिद्धान्त में मूल पदार्थ स्वरूप से ही भ्रष्ट हो जाता है। इससे हम यह समझ सकते हैं कि मूल पदार्थ को कायम रखकर संयोगानुसार उसका परि-

---

स्थितियों में से गुजरता हुआ आज हमारे समक्ष उपस्थित हुआ है इस बात का स्पष्टी करण निम्न उल्लेख से अच्छी तरह हो जायगा।

परम श्रमण श्री महावीर का आचरण ही ऐसा है कि जो एक महोपदेशक की गरज पूरी कर सके, उनका एवं उनके श्रमण शिष्यों का आचार इतना निवृत्ति परायण था कि जिससे उनमें के किसी भी आत्मनिष्ठ व्यक्तिको गुरु की ओर से प्राप्त हुये आत्मज्ञान के संक्षिप्त किंतु गम्भीर उपदेशात्मक वाक्य समूह को लिपिबद्ध करने की जरा भी आवश्यकता न थी। इससे वे उस उपदेशात्मक वाक्य समूह को अपनी आत्म जागृति के लिये यथास्थित स्वरूप में कण्ठस्थ रखते थे। वे उपदेश बहुत ही संक्षिप्त वाक्यों

में समाविष्ट होने के कारण सूत्रों के नामसे प्रसिद्ध हुये थे। इसी कारण वर्तमान समय में उपलब्ध उन सूत्रोंका विशाल विस्तार भी सूत्रोंके नामसे ही प्रसिद्ध होरहा है। अर्थात् जो सूत्र शब्द उन गणधर महाशयों के समय अपनी (सूत्रनात् सूत्रम् वाली) यथार्थ व्युत्पत्ति को चरितार्थ करता था, वही सूत्र शब्द इस समय अपनी उस व्युत्पत्ति को एक तरफ रखकर जैन सम्प्रदाय की रूढ़ीके वश हो प्रमाण में लाखों श्लोकों की संख्या वाले ग्रंथों को भी अपने भावमें समाविष्ट करने लगा है !

कहना न पड़ेगा कि जब तक गणधरों के शिष्य स्थविर महाशयों ने उन संक्षिप्त सूत्रोंको कण्ठस्थ रक्खा था तब तक उनकी अर्ध मागधी जरा भी परिवर्तित न होने पाई हो, परन्तु जब वे सूत्र शिष्यपरम्परा में प्रचलित हुये हों और वह शिष्य परम्परा भिन्न भिन्न देशोंमें विहार करती होगी बहुत संभव है कि उस समय जरूर उन सूत्रोंकी मूल भाषा अर्ध मागधी भिन्न भिन्न देशोंके संसर्ग से स्मृति भ्रंशके कारण और उच्चार भेदसे परिवर्तन को प्राप्त हुई हो।

विशेष आगे न जाकर परम श्रमण महावीर की दूसरी शताब्दी की ही बात पर दृष्टिपात करने से मालूम हो जाता है कि—"२ जिस वक्त आर्य स्थूलभद्र विद्यमान थे उस वक्त

इससे यह बात भली भांति विदित हो सकती है कि महावीर की दूसरी शताब्दी से ही श्रुतकी छिन्न भिन्नता याने साहित्य की भाषा और भावोंमें न्यूनाधिक परिवर्तन प्रारंभ हुआ। हमारे दुर्भाग्य वश वह परिवर्तन प्रारंभ उतने से ही न अटका परन्तु उत्तरोत्तर विशेष वृद्धिको प्राप्त होता गया। उस दुर्भिक्ष

मगध देश में एक ही साथ अनुक्रम से बाराह वर्षीय महा भीषण दुष्काल पड़ा, उस समय साधुओं का संघ अपने निर्वाह के लिये समुद्र किनारे के प्रदेशों में रहने गया था। वहां पर साधु लोग अपने निर्वाह की पीड़ा के कारण कण्ठस्थ रहे हुये श्रुतका पुनरावर्तन न कर सकते थे और इससे वह श्रुतज्ञान विस्मृत होने लगा। इस तरह अन्नके दुष्काल का असर पवित्र श्रुत पर भी पड़े विना न रहा। इससे उस श्रुत की भी दशा एक दुर्भिक्ष पीड़ित के समान हो गई। भीषण दुर्भिक्ष के बाद पाटलिपुत्र—पटना में श्रीसंघ एकत्रित हुआ और उस समय जो जिसके याद था वह सब श्रुत एकत्रित कराया गया। सब मिलाकर मुश्किल से ग्यारह अंग जुड़े, परन्तु दृष्टिवाद नामक १२ वां अंग तो प्रायः सर्वथा नष्ट हो चुका था क्योंकि उस समय आर्य भद्रबाहु अकेले ही उस दृष्टिवाद के ज्ञाता थे। (देखो-परिशिष्ट पर्व अष्टमसर्ग श्लो० १९३ तथा नवम सर्ग श्लो० ५५--५८)

के बाद लगभग तीनसौ चारसौ वर्ष पीछे-वीर निर्वाण से पांचवीं छठी शताब्दी में आर्य श्री स्कंदिल और वज्रस्वामी की निकटता के समय वैसा ही एक भीषण दुर्भिक्ष इस देशको पार करना पड़ा था। इस विषय का वर्णन करते हुये नंदी चूर्णी लि० पृ० सं० ४ में उल्लेख किया गया है कि बारह वर्षीय भयंकर दुर्भिक्ष पड़ने पर अन्नके लिये साधु जुदे जुदे स्थान में विचरते थे, इससे श्रुतका ग्रहण, गुणन और चिन्तन न कर सके, इस कारण वह श्रुत नष्ट भ्रष्ट हो गया। जब पुनः सुभिक्ष हुआ तब मथुरा में श्री स्कंदिलाचार्य प्रमुख संघने साधु समुदाय को एकत्रित करके जो जिसे स्मरण रहा था वह सब कालिक १ श्रुत संगठित किया।" इस पूर्वोक्त दुर्भिक्ष ने पहले दुर्भिक्षसे बचे हुये श्रुतको विशेष हानि पहुंचाई ; यह उद्धार सूरसेन देश २ के पाट नगर मथुरा में होने के कारण श्रुतमें सौरसेनी भाषाका विशेष सम्मिश्रण हुआ और उसमें जुदे जुदे अनेक पाठान्तर ३ भी वृद्धि को प्राप्त हुये।

---

१ देखो-कालिक श्रुत के लिये नंदीसूत्र।

२ देखो-प्रज्ञापना, आर्य देश विचार।

३ विशेष पाठ भेदों से उलझन में पड़े हुये श्रीअभयदेव

यह बात हमें दुःखके साथ लिखनी पड़ती है कि वह विषम खेदका प्रसंग बीतने के बाद भी प्रकृति देवीकी क्रूरतासे देश पर फिरसे वीर निर्वाण दसवीं शताब्दी में दुर्भिक्ष के बादलों की घनघटा छा गई। इस समय बहुत से विशेषज्ञ स्थविरों का अवसान हो गया और जो कुछ जीर्ण शीर्ण श्रुत बचा था वह भी विशेष रूपमें छिन्न भिन्न हो गया। इससे उस

सूरिजी लिखते हैं कि—"अज्ञा वयं शास्त्रमिदं गभीरं-प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि।"

"प्रश्न व्याकरण वृत्ति प्रारम्भे किमपि स्फुटीकृत-मिह स्फुटेऽप्यर्थतः सकष्टमतिदेशतो विविधवाचनातोऽपि यत्"

(ज्ञाता धर्मकथा वृत्ति प्रान्ते)

इस विषम समयकी परिस्थिति दिखलाते हुये कहा गया है कि—"श्रीदेवर्धिगणीक्षमाश्रमणेन श्रीवीराद् अशीत्यधिकनवशत (९८०) वर्षे जातेन द्वादशवर्षीयदुर्भिक्ष वशाद् बहुतरसाधुव्यापत्तौ बहुश्रुत विच्छित्तौ च जातायां x x x भविष्यद् भव्यलोकोपकाराय श्रुतभक्तये च श्रीसंघाग्रहाद् मृतावशिष्टतदाकालीनसर्वसाधून् वलभ्यामाकार्य तन् मुखाद् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान्

समय के अंग साहित्य की स्थितिके साथ श्री वीर समय के अंग साहित्य की तुलना करने वाले को दो सौतेले भाइयों के बीच जितना अन्तर होता है उतना भेद मालूम होना सर्वथा संघटित कल्प है।

त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या संकलय्य पुस्तकारुढाः कृताः । ततो मूलतो गणधर भाषितानामपि तत्संकलनानन्तरं सर्वेषामपि आगमानां कर्ता श्रीदेवर्धिगणिक्षमाश्रमण एव जातः

(समय सुन्दर गणी रचित सामाचारी शतके)।

अर्थात् श्री देवर्धिगणी क्षमाश्रमने बारह वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण बहुत से साधुओं और अनेक बहुश्रुत स्थविरों के विच्छेद हो जाने पर श्रुतकी भक्तिसे प्रेरित हो भावी प्रजाके उपकारार्थ श्री वीर निर्वाण से ९८० वें वर्षमें श्री संघके आग्रह से उस समय में बचे हुये साधु समुदाय को वलभीपुर में एकत्रित कर उनके मुखसे अवशेष रहे हुये न्यूनाधिक, त्रुटित और अत्रुटित आगम के पाठ अपनी बुद्धिसे अनुक्रमतया संकलित कर पुस्तकारुढ किये। इस तरह प्रारंभमें गणधरों द्वारा रचित होने पर भी सूत्र देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमणसे पुनः संकलित होने के कारण वर्तमान कालीन समस्त आगमों के कर्ता श्रीदेवर्धिगणी क्षमाश्रमण ही कहे जाते हैं"।

जैन दर्शन का यह सिद्धान्त तत्ववाद एवं आचारवाद में सर्व व्यापी होनेके कारण अपना अपरनाम, अनेकान्त दर्शन, भी धारण करता है। उसका यह सिद्धान्त प्रकृति के नियमानुसार है। प्रकृति की ऐसी रचना है कि संयोग वश वज्र जैसा सघन या कठिन और गुरुतम पदार्थ भी नरम प्रवाही जैसा हो जाय और नरम प्रवाही पदार्थ वज्रके समान घन एवं कठोर बन जाता है। यह बात व्यवहारिक है, अनुभव प्रतीत है और प्रयोगशाला देखने वाले को प्रत्यक्ष सिद्ध है, तब फिर श्री वर्धमान के समय के उपदेश, आचार, विचार, या तत्ववाद परिवर्तित हों तो इसमें कोई नवीनता नहीं। वर्तमान समय में श्री वर्धमान के जैसे

उपरोक्त परिस्थिति से यह स्पष्ट मालूम हो सकता है कि गणधरों के रचे हुये सूत्रों या अंगों पर कैसे कैसे युग बीते हैं। जिस साहित्य पर कुदरत की ओरसे ही ऐसा भीषण प्रकोप हो वह साहित्य परंपरागत एक सरीखा ही चला आवे यह बात किसी भी विचारक की बुद्धिमें यथार्थ नहीं जच सकती। किन्तु जो अङ्ग साहित्य इस समय विद्यमान है वह दुष्कालों के भीषण प्रहारों के कारण काल, रूढी, स्पर्द्धा और स्वाच्छंद के असह्य जखमों से जखमित स्थिति में हमारे सामने अस्तित्व धारण करता है।

शरीर, वृत्तियां, वस्त्र, घर, वैभव या मनुष्य इत्यादि में से कुछ भी एक रूपसे स्थिर न रहा एवं परम्परागत एकाकार में आज कुछ भी उपस्थित नहीं देख पड़ता, इतना ही नहीं बल्कि उसमें इतना भारी परिवर्तन हो गया है कि श्री वर्धमान के समय का कोई क्षत्रियकुण्ड का रहनेवाला आज आकर अपने गांवको देखे तो वह देखकर एकदम यह नहीं समझ सकता कि यही वह क्षत्रियकुंड है जिसमें कि वह निवास करता था। रातदिन के समान यह परिवर्तन क्रम जितना अनिवार्य है उतना ही उपयोगी भी है। यदि यह परिवर्तन की प्रथा न होती तो स्वभावतः नित्य नई रुचि वाले मनुष्यों को इस संसार में जीवन बिताना मुश्किल हो जाता।

यहाँ पर पाठक मुझसे यह प्रश्न कर सकते हैं कि यदि यह परिवर्तन क्रम वस्तुमात्र के साथ समान रूपसे सम्बन्ध रखता है तो जैन साहित्य को भी लागू पड़े इसमें उसका विकार ही क्या? और उस विकार से हानि ही क्या?

मुझे नम्रता पूर्वक कहना चाहिये कि परि-

वर्तन के दो प्रकार हैं, एक परिवर्तन विकाश गिना जाता है और दूसरा विकार कहलाता है। एक मनुष्य नियमित रूपसे निरन्तर पथ्य आहार ग्रहण करता हो उसका जठर उस आहारको पचा कर उसमें के सार हिस्सेको खून रूपमें, शुक्र रूपमें, या पित्तादि रूपमें परिणमित करता हो और उसके द्वारा उस मनुष्य के अवयव पुष्ट होते रहने के कारण उसके मुख पर लालिमा आजाने से उस परिवर्तन का नाम शारीरिक विकाश कहलाता है, और अनियमित अपथ्य आहार लेनेवाले मनुष्य के शरीर में जो फीकापन आता है, शरीर फूल जाता है वा शरिर पर जो सूजन आ जाती है, उस परिवर्तन का नाम शारीरिक विकार है। ये विकाश और विकार परिवर्तन की दृष्टिसे तो दोनों समान ही हैं, परन्तु उनमें से एक हमें विशेष इष्ट और दूसरा सर्वथा अनिष्ट है। इसी प्रकार जिस साहित्य की रचनाशैली में परिस्थिति के अनुसार फेरफार किया जाता हो या अपूर्ण रचनाशैली को समय और संयोगानुसार न्यूनाधिक करके पुष्ट बनाई जाती हो वह परिवर्तित साहित्य विकाश की कोटिमें गिना जाता है, परन्तु

जिस रचनाशैली को स्वाच्छंद्य, दुराग्रह, गृद्धता या लोकैषणा वगैरह अपथ्य के संसर्ग से फीकी की गई हो, शोफित की गई हो और जो ढोल के समान फुलादी गई हो उस परिवर्तन को यथार्थ रूपसे साहित्य विकार की संज्ञा घटती है। इन दो परिवर्तनों में प्रथम का परिवर्तन हमें हितकर और कल्याण कर है, परन्तु दूसरा अहितकर और अमंगलप्रद है।

यदि कोई भी देश, समाज या धर्म प्रगति को प्राप्त हुआ हो तो उसमें प्रथम परिवर्तन ही कारण रूप है और कोई देश, समाज या धर्म यदि अधः पात-अवनति को प्राप्त हुआ हो तो उसमें दूसरा परिवर्तन ही मुख्य कारण है। वर्तमान भारत, उसकी प्रजा और उसका धर्म जिस अपदशा का अनुभव कर रहा है उसका समस्त श्रेय दूसरे परिवर्तन पर ही अवलम्बित है। कोई भी धर्म कलह को पोशित नहीं करता, प्रजाके विकाश की रुकावट नहीं करता और प्रजाके विकाश कारक व्यवहारिक नियमों में हस्तक्षेप नहीं करता, तथापि वर्तमान युगके धर्मी धर्मको सामने रख कर मानो स्वयं ही

धर्मके रक्षक न हों ऐसा समझ कर धर्मके नाम से कलह करते हैं, प्रजा बलको क्षीण करते हैं, युवकों के विकाश को रोकते हैं और जागृत होती प्रजा को धर्म के हाऊसे डराकर सुला देनेका प्रयत्न कर रहे हैं। इन सब बातों का मूल कारण दूसरा परिवर्तन ही तो है।

पाठक समझ सके होंगे कि देश कालानुसार परिवर्तन जितना उपयोगी होता है, विपरीत परिवर्तन उतना ही भयंकर होता है। मेरी समझ के अनुसार जैन साहित्य में इष्ट और अनिष्ट दोनों प्रकार के परिवर्तन हुये हैं। उनमें से इष्ट परिवर्तनों को आदर की दृष्टि से देखना चाहिये और अनिष्ट परिवर्तनों को दूर करना उचित है। मेरा यहाँ पर चर्चाका मुख्य विषय यह है कि वह अनिष्ट परिवर्तन क्यों हुये? किसने किये? और उनका व्यौरा क्या है?

सर्वथा सत्य—प्रगट सत्य, शुद्ध सत्य एक ऐसा भारी रसायन है कि जिसे मनुष्य मात्र झेल नहीं सकता। जिस तरह विशेष प्रकाश विशाल नेत्रवाले की भी आंखों को चुंधिया देकर उसकी दर्शन शक्तिका निरोध करता है

वैसेही केवल शुद्ध सत्यका उपदेश लौकिक–साधारण मनुष्यको उलझन में डाल देता है। शुद्ध सत्यकी दृष्टिमें पुन्य पापके तड़ टिक नहीं सकते। शुद्ध सत्यकी दृष्टिमें सारासार नहीं टिक सकता और शुद्ध सत्यके सामने जाति अजातिकी भावनाको अवकाश नहीं मिलता। यदि उसके सामने कोई टिक सकता है तो मात्र एक आत्म स्वास्थ्य–सिद्ध वेद्य स्वास्थ्य ही समर्थ है। यद्यपि निखालस सत्य पिशाचके समान डरावना लगता है तथापि परम शान्ति उसीमें समाई हुई है। विकाश की पराकाष्टा पर पहुँचने वाले मनुष्य मात्रको यदा कदापि उसकी ही गोद टटोलनी पड़ेगी यह बात अनिर्वचनीय और अगेय होनेके कारण किसी से निखालस रीत्या नहीं कही गई परन्तु ढूँढा इसे सबने है। वर्तमान समयमें इसे कोई कथन नहीं करसकता और न ही भविष्यमें भी यह कथन किया जायगा। मनुष्य जन्मसे ही कृत्रिम सत्योंका संसर्गी है अतः उसके समक्ष निखालस सत्यका सीधा उपदेश किस तरह किया जाय? इसी एक कारणवशात् मनुष्यकी अवनति की आशंकासे अनन्त कालसे वह ठोस सत्य छिपा

हुआ रहा है और आगे भी वह हमेशह के लिये छिपा रहेगा। परन्तु वही सबका ध्येय और अन्तिम लक्ष्य होनेसे हरएक मनुष्य ज्ञाताज्ञात तया उसीकी उपासना कर रहा है। जिस तरह सांसारिक व्यवहार में निपुणता प्राप्त करने के लिये प्रारम्भ में कृत्रिम साधनों एवं कृत्रिम व्यवहारों का उपयोग किया जाता है उसी तरह उस परम सत्यको प्राप्त करनेके लिये भी कृत्रिम सत्य और कल्पित व्यवहारोंकी योजना की गई है। इन काल्पित सत्य या सभ्य सत्यों और कल्पित व्यवहारों को मैं इष्ट परिवर्तन की कोटि में रखता हूँ। इन कृत्रिम सत्यों और व्यवहारों में समयके अनुसार, समाजके अनुसार और परिस्थिति के अनुसार अनेक परिवर्तन हो चुके हैं, होते रहते हैं और हुआ करेंगे। परन्तु जब उन परिवर्तनों को समझने में उपदेशक या उपासक भूल करते हैं, आग्रह करते हैं, जो हुक्मी चलाते हैं और अपना सिक्का जमाने के लिये समय, समाज, या परिस्थिति की अवगणना करने तक नहीं चूकते, तभी तो उन इष्ट परिवर्तनों में अनिष्ट परिवर्तन सम्मिलित हो जाते हैं और फिर पीढ़ी दर पीढ़ी में होने वाले उपदेशक

या उपासक उसी अनिष्ट परिवर्तन को परिपुष्ट करते रहते हैं। शास्त्रोंमें उसका सम्मिश्रण करते हैं इतना ही नहीं अपने पूज्य पुरुष के नामपर चढ़ा कर उसे वज्र लेपके समान दृढ़ करते हैं। जब समाज अनेकानेक वर्षों तक इन अनिष्ट परिवर्तनों का आदि बन जाता है–इनमें रूढ़ हो जाता है तब अनिष्ट परिवर्तन ही उसके धर्म, सिद्धान्त और कर्त्तव्यका रूप धारण कर लेते हैं, फिर उसके फल स्वरूप में शान्ति की जगह क्लेश, आरोग्य की जगह बीमारी, धनाढ्यता की जगह दरिद्रता, स्वातन्त्र्य की जगह गुलामी आदि नरकसे भी भयंकर यातनायें सहन करनी पड़ती हैं। आश्चर्य तो इस बातका है कि वर्तमान जैन समाज प्रस्तुत परिस्थिति का अच्छी तरह अनुभव कर रहा है, तथापि ऊंची आंखें उठा कर वह अपनी दुर्दशा पर दृष्टिपात नहीं करता? मानो पूर्वोपार्जित का प्रायश्चित्त ही न कर रहा हो, इस तरह मौन मुख होकर सब कुछ सहन कर रहा है।

एक रोगी को रोगदूर करने के लिये किसी एक वैद्यने तमाकू खाना बतलाया। रोगीने

जन्मसे कभी तमाकू न खाया था, अतः प्रारम्भ में खाना तो दूर रहा, परन्तु उस तमाकू की गन्ध सहन करना भी दुष्कर हो गया। रोग दूर करनेमें तमाकू खाना आवश्यक होनेके कारण उसने धीरे २ आदत डाली। बहुत दिन खाते रहनेसे अब उसे तमाकू से वह घृणा नहीं रही, अब वह खुशीसे तमाकू खाता है। तमाकू खानेका अब इतना आदी बनगया कि तमाकू तो महादेवजी को भी प्यारी है, ऐसा कह कर अपनी निर्दोषता स्थापित करनेके साथ २ तमाकू की देवप्रियता का भी वर्णन करने लगा। परिणाम यह हुवा कि उसका रोग तो नष्ट हो गया, किन्तु तमाकू की बीमारी घुस गई। तमाकू बतलाने वाले वैद्यने कहा कि अब तुम्हें तमाकू सेवन की आवश्यकता नहीं, परन्तु पौष्टिक पदार्थ दूध, मलाई, मावा वगैरह खानेकी जरूरत है। तमाकू के भक्तको यह बात न रुचि, उसके मन तो तमाकू ही मलाई और मावासे बढ़ कर मालूम दी। एक समय तमाकू की ओर घृणासे देखने वालेके मुख कमलमें अब जब देखो तब तमाकू लक्ष्मी ही निवास करती नजर आती है। तमाकू व चूना

मसलते २ उसकी हथेलियां लाल हो गई इतना ही नहीं किन्तु अब उसके घरकी दीवारें तक भी तमाकू के रंगसे रंगी गई। अन्तमें उस मनुष्यने दुःखित जीवन विताकर प्राणों का परित्याग किया, परन्तु तमाकू न छुटी। इसी प्रकार कितनेएक इष्ट परिवर्तन भी उस तमाकू के समान ही हैं। हरएक मनुष्यको परम सत्य के साथ साम्यभाव प्राप्त करने के लिये प्रारंभ में उन परिवर्तनों का आश्रय लेना पड़ता है—इसका आश्रय लिये विना हमारा आत्म-विकाश हो नहीं सकता ; व्यवहारमें भी अनु-भव किया जाता है कि किसी कलामें पारंगत होने के लिये प्रारंभमें कल्पित या बनावटी साधनों का सहवास रखना पड़ता है। हमारे बच्चे गुड्डा गुड़ियों आदिके खेलसे गृहव्य-वहार और कौटुम्बिक सम्बन्ध सीखते हैं। अद्वितीय भौगोलिक बनने के लिये पृथ्वीके बनावटी गोलेका आश्रय लेना पड़ता है। बना-वटी नदियां, बनावटी समुद्रों, बनावटी पहाड़ों और बनावटी नगरों की ओर सावधानता पूर्वक देखना पड़ता है, ऐसे अनेक उदाहरण स्पष्ट प्रतीत होते हैं। परन्तु जब हम परिपक्व वय

का प्राप्त होते हैं तब इस तरहके अर्थक्रिया शून्य गुड्डा गुड़ियों आदि खिलौनों को हाथ तक नहीं लगाते। चित्तवृत्तिका विकाश हुये बाद कल्पित बातोंकी अपेक्षा व्यवहारिक बातें विशेष लाभ करती हैं एवं भौगोलिक पंडित कुछ निरन्तर ही अपनी जेबमें भूगोल के नकशोंका पुलिंदा नहीं डाले रखता। यदि हम बाल्यावस्थासे लेकर परिपक्व वय होने तक उपरोक्त प्रकार के परिवर्तन न करें और बच्चोंकी गुड्डागुड़िया वाली खेलन क्रियाको ही चुस्त श्रद्धा पूर्वक पकड़े रहें तो क्या निर्वाह हो सकता है? इतने विशाल संसार में क्या एक भी मनुष्य ऐसा देखपड़ता है कि जो अपनी बालकता को ही बड़पन में भी पूर्णतया पकड़े रखता हो? मेरी तो मान्यता है कि हमारी प्रत्येक सामग्रीमें परिस्थिति के अनुसार यदि हम परिवर्तन करते रहें तभी हमारा विकाश वृद्धिगत हो सकता है। सामग्रियोंमें परिवर्तन करनेसे हमारे पूर्वजों का अपमान नहीं होता, बल्कि प्रत्युत उन पूर्वजों के लक्ष्य तक पहुँचनेके लिये जिस तरह हम गुलाब के पौधेकी कलम करते हैं वैसे ही हम अपनी पारम्परिक विकारित

सामग्रियों की कलम करनी आवश्यक है। संसार में कितने एक प्रसंग ऐसेभी उपस्थित होते हैं कि जिनमें कुदरत ही हमें परिवर्तित कर देती है, परन्तु जब हम कुदरतका सामना करके अश्रद्धालु बन बैठते हैं उस वक्त अपरि वर्तित पानके समान हममें दुर्गन्ध की वृद्धि होती रहती है। न फिराये हुये घोड़ेके समान हमारी गति रुक जाती है और अन्तमें चूल्हे पर न फिराई हुई रोटीके समान हमारे नाश का भी प्रारंभ हो जाता है। इस रीतिसे (विकृत परिणाम में रूढ होकर) हम पिता वै जायते पुत्रः-बापके समान बेटावाली कहा-वत को झूठा ठहरा कर पुरातन श्री वर्धमान जैसे बुजुर्ग को भी आचार और विचारमें अपने समान मानते हैं यह क्या कम अविवेक है?

सर्व साधारण लोकहित की ओर दुर्लक्ष्य करके सिर्फ अहंपदी, स्वार्थी और लोलुप बनेहुये ब्राह्मणों ने वैदिक प्राचीन सत्योंमें अनेक सम्मिश्रण कर परिस्थिति के अनुसार परि-वर्तनीय वैदिक पद्धति में परिवर्तन न करके वर्तमान वैदिक धर्मको श्री वर्धमान और बुद्ध

के समय में ऐसा भीषण बनाया था कि मानो लोक विकाश का संहार करने के लिये कोई पिशाच ही न आया हो!! उस समय "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" "सत्यं वदेत् नानृतम्" इत्यादि सत्योंका उपदेश करते हुवे वैदिक धर्म ने पशुवध और नरवध तकको भी धर्मतया स्वीकृत किया था। "आत्मवत् सर्व भूतेषु" के सिद्धान्त को उद्‌घोषित करते हुये वैदिक मतने मानो ब्राह्मण सिवाय अन्य मनुष्य ही नहीं हैं, यह समझ कर समस्त अधिकार ब्राह्मणों को देकर दूसरों को उससे सर्वथा वंचित रक्खा था। सत्यं वदेत् नानृतम् के नियम पर रचे हुवे वैदिक दर्शनने उस समय के मानव समाजके पैरोंमें बेड़ियां पहनाई थीं और हाथोंको जकड़ दिया था। इसी कारण उस समय के समाज का मुख पोषण विहीन होनेसे विनाशकी अणी पर उसकी राह देख रहा था। पादे कुठारः करके उन चतुर ब्राह्मण गुरुओंने भी ऐसी भयंकर भूल की थी कि जिसके परिणाममें वर्तमान भारत अज्ञानता के चिकने कीचड़में धस कर

आज भी पारतन्त्र्य की विषम यातना सह रहा है।

उन ब्राह्मणोंने उस समयके भोले भाले समाज को यह उपदेश दिया था, कि हम जो कहें वही सत्य है, हमारे कथनमें किसीको शंका या प्रश्न करने का अधिकार नहीं है। हमारा निर्णय ईश्वरीय निर्णय है, क्योंकि हम ईश्वरके प्रतिनिधि हैं। [१] शूद्र नीचमें नीच होने के कारण उन्हें नगरमें या गांवमें रहनेका अधिकार नहीं। यदि वे नियत किये हुये समयके विना गांवमें तथा नगरमें आवें तो उन्हें प्राणदण्ड की शिक्षा देना यह राजाका कर्त्तव्य है, ऐसा न करनेवाला राजा गर्भपातके पापका भागी बनता है। [२] शूद्रोंको घरवार का

---

१ शूद्राद् ब्राह्मण्यां चण्डालाः X X X कक्षे झल्लरीयुक्तः पूर्वाह्णे मलान्यपकृष्य बहिरपोह्यति। ग्रामाद् बहिर्दूरे स्वजातीयै र्निवसेत्। मध्याह्नात् परं ग्रामे न विशत्ययम्, विशेच्चेद् राज्ञा वध्यः, अन्यथा भ्रूणहत्या-मवाप्नोति (वैखानस धर्म प्रश्न पृ० ४८)।

२ न्यायवान् कहलाने वाले राजा रामचन्द्र ने अपने ब्राह्मण गुरुकी आज्ञासे मात्र सन्यासी वन जानेके अपराध में शूद्रक राजाके प्राण लिये थे, (देखो सीता नाटक)।

जंजाल छोड़कर ईश्वरका नाम लेनेका–परब्रह्मो पासना का भी अधिकार नहीं। क्षत्रिय और वैश्य भी हमसे नीचे ही हैं। हम धार्मिक विधिविधानों में उनका हस्तक्षेप न होने देंगे। हम कहें वैसा करना ही उनका धर्म है। वेदाध्ययन करनेका उन्हें अधिकार नहीं, ईश्वर की सन्तान होनेके कारण हम ही वेदोंके उत्तराधिकारी हैं, हमारा कथन सबके लिये ईश्वरीय फर्मान है विशेष क्या लिखूं वर्तमान समयमें जिस तरह गौरांग, श्यामांगों पर अपनी अदमनीय सत्ता का उपयोग कर रहे हैं, वैसी ही कठिनाई युक्त सत्ता ब्राह्मण गुरुओंने समाज पर चलाई थी। मेरी मान्यताके अनुसार इसका कारण यह था कि वैदिक सम्प्रदाय के भूदेव गुरुओंने मात्र अपने विलास की तरफ ही दृष्टि रक्खी थी और धर्मको उसका खास साधन बनाया था। इसीसे वे परिस्थिति, लोकहित या आत्मविकाश से विपरीत प्रवाहमें बहने लगे थे। वैदिक सत्यमें जो त्रुटियां पूर्वापर से चली आई थीं और जो विशिष्ट साधन लोक हितके लिये उसमें मिलाये गये थे, उनका वे पृथक्करण न कर सके, इससे

वैदिक सत्य इतना शोफित (सूज गया) होगया कि जिसके परिणाम में उपनिषदों के प्रवाह से उसे भूशायी होना पड़ा।

यही दशा पोप धर्मकी है। यह धर्म पोप-लीला के नामसे प्रसिद्ध है। क्या इसके लिये यह कम शरम की बात है? कहने का सारांश यह है कि परिस्थिति एवं लोकहित को भूल जानेसे धर्ममें अनिष्ट तत्व पैदा होजाता है और हुआ है। जो लोकहितके साधन हैं वे भी परिस्थिति के विरोधि प्रवाहमें बहने के कारण कितने एक प्राणियों की आत्माको जकड़ने के लिये रस्सी का काम करते हैं। आज प्रत्यक्ष देख रहे हैं, कि रक्षा करने वाली बाड़ ही खेतको खा रही है, धारण करने वाला धर्म ही उसके आश्रितों को नीचे पटक रहा है और माता पिताके समान धर्म गुरुओं को अपनी सन्तान की वेदना पूर्ण कराहना की ओर दृष्टिपात करने तकका भी अवकाश नहीं मिलता। वे अनेक यातनायें सहते हुये जीते जागते जैनियों की सोचनीय दशा पर दुर्लक्ष्य कर अपनी वंशवृद्धि की चिन्ता

में लीन हैं। निर्जीव होने तक जैनोंकी उपेक्षा कर पाषाण खण्डों–मूर्तियों के लिये सरकारी अदालतों में मुकदमेबाजी कराते हैं, निर्धन व निःसत्व होते हुये जैनों की तरफ ध्यान न देकर सुन्दरमें सुन्दर चंदोवा पूठियाके नीचे समवसरणमें बैठकर उसीका समर्थन किया करते हैं, निरुद्यमी होते हुये जैनोंकी बेपरवाह करके वर्तमान समय के विपरीत बड़ी २ यात्राओं के उपलक्ष्य में लाखों रुपयोंका तगार कराते हैं। जैसे स्त्रियों को वाद्य प्रिय होता है वैसे ही उन्हें भी सामैय्या–जलूस अतिप्रिय लगता है। जिस तरह औरतें गीतसे मस्त बन जाती हैं वैसे वे भी गौहली–व्याख्यान में गाई जाती हुई अपनी स्तुति, सुनकर मस्त बने हैं। ज्यों स्त्रियोंको जमाई प्रिय होता है त्यों उन्हें भी शिष्य अति प्यारे हैं। यहाँ पर इस विषयमें विशेष कह कर अपनी आत्माको कलुषित करनेकी मेरी वृत्ति नहीं है, तथापि मैं इतना अवश्य कहूँगा कि वर्तमान समयके धर्म गुरु बदले की नीतिकी भी हिफाजत नहीं कर सकते। क्या ऐसा करते हुये अन्यायार्थ भोजी नहीं कहे जा सकते? मैं उनके चरणों में पड़कर उन्हें यह प्रार्थना करता

हूं कि वे अब या तो बदले की नीतिको ध्यानमें लेकर अपनी स्थितिको सुधारें या पूर्व मुनियोंके समान श्रावकों का संसर्ग छोड़ कर वनवासी बन जायें; परन्तु श्रावकोंके हितके बहाने उनके साथ सम्बन्ध रखने वाले खाते खोल कर और उनके प्रत्येक व्यवहारिक कार्यमें दस्तन-दाज़ी करके सरकारी पुलिस के समान उनमें पारस्परिक फूट डालकर उन्हें विशेष कदर्थित करने के घृणित कार्यको छोड़ दें।

अब हम पाठकोंका इस ओर ध्यान खींचते हैं कि जैन धर्ममें ऐसे कौनसे परिवर्तन हुये जो इष्ट परिवर्तन और अनिष्ट परिवर्तनकी कोटिमें आ सकते हैं और वे मूल जैन धर्मके साथ कितना सम्बन्ध रखते हैं एवं उस तरहके उसमें संमिश्रण किस २ समयसे प्रचलित हुये हैं। मानव जाति इतनी अपूर्ण और परतंत्र है कि उसे प्रत्येक प्रवृत्ति में किसी एक नायक की आवश्यकता पड़ती है। नायक विना व्यवस्थित प्रवृत्ति नहीं हो सकती। घर सम्बन्धी, बाहर सम्बन्धी, लौकिक या पारलौकिक समस्त प्रवृत्तियों में प्राप्त होनेवाली सफलता का कमसे

कम आधा आधार नायक की आवाज़ पर नि-
र्भर रहता है। मैं स्वयं भी ऐसा हूँ कि समझते
हुये भी नायक की (घर में बड़े माताजी वगैरह
नायक की) प्रेरणा सिवाय पूरा आरोग्य भी
नहीं रख सकता। समझता हूँ कि अंगुलीके मूल
भागमें खुजली हो तो खुजाना नहीं, ऐसा करने
से एक वेदना को शान्त करते हुये भविष्य में
दूसरी वेदना का होना सम्भव है, तथापि खुज
लीके वश होकर हँसते हँसते खुजाने लगता हूँ।
ऐसी ही स्थिति मैंने सैकड़ोंकी देखी है, संसार
में मेरी वृत्ति वाले मनुष्यों की बहुलता होने से
आत्मावलम्बी बहुत कम हैं, मेरी यह कल्पना
सत्य ही प्रतीत होगी। इस तरहकी साधारण
और क्षुद्रमें क्षुद्र हानिकर प्रवृत्तिसे अटकनेके
लिये भी हमें नायककी प्रेरणाकी आवश्यकता
पड़ती है, तब फिर जिस अज्ञात पन्थपर हमारे
जीवन का विकाश अवलम्बित है उस मार्गके
सिवा दूसरी तरफ ध्यान न जाय इसके लिये
हमें किसी एक मार्ग दर्शक की जरूरत हो यह
स्वाभाविक बात है। इसी नियम के अनुसार
घरमें, कुटुम्बमें, जातिमें, बाज़ारमें, गांवमें,
परगनेमें, ज़िलेमें, प्रान्तमें और देशमें एवं हर

एक जगह की व्यापार क्रियाओंमें एक २ नायक की योजना की गई है। कोई एक जवाबदार स्थान कल्पित किये सिवा हमें कल नहीं पड़ती। नम्बरदार, थानेदार, न्यायाधीश, मंत्री और राजा आदिकी योजना भी हमारी अपूर्णता पर ही निर्भर है, इतना ही नहीं किन्तु ईश्वर वाद तककी जड़ भी मनुष्य की अपूर्णता ही है। युगलिकों के लम्बे चौड़े वर्णनों से भी यही सार निकलता है कि एक समय मनुष्य संसार में कोई राजा न था, न ही कोई आगेवान या गुरु था, तथापि युगालिक लोग अपनी २ मर्यादा में रह कर सिर्फ खेती पर ही अपना निर्वाह करते थे। परस्पर व्यामोह या कलहका नामोनिशान तक भी न था और सबके सब स्वयमेव पूर्ण निरोगी रह कर ऐसा स्वर्गप्रद व्यवहार करते थे कि जो इस समय मात्र हमारे ग्रन्थोंमें ही शोभा प्राप्त कर रहा है। यद्यपि युगलिकोंको जंगली समझ कर हमें हँसी आयगी, परन्तु वर्तमान सुशिक्षित व सुधरे हुये समाज की परतंत्रता के लिये क्या किसीको जरा भी शरम आती है? अस्तु, अन्तिम नतीजा यह निकलता है कि मनुष्यकी अपूर्ण स्थिति तक,

परिपूर्ण स्वतंत्रताको झेलनेकी शक्ति प्राप्त हो तबतक हमारे सर्व व्यापारों में नायक के तत्व की अपेक्षा आवश्यक है। जिस तरह हमारे अन्य व्यवहार, हमारे विकाश में नियमित रूप ह त्यों धार्मिक व्यवहार भी हमारे लिये परम पथ्य रूप है। उस व्यवहारको मर्यादित रखने के लिये, उसे परिस्थिति के अनुसार परिवार्तित करनेके लिये और उसमें अनिष्टता का संमिश्रण न होने पावे इस वातकी हिफाजत के लिये हमें एक गुरु संस्थाकी आवश्यकता अवश्य है। प्रवर्तमान जैन संघकी रचनाकी स्थापना चाहे जब हुई हो, वर्तमान रत्नत्रय की (देव गुरु धर्मकी) योजना चाहे जिसने की हो परन्तु उसमें का उपदेशक विभाग उपरोक्त मुद्दे पर ही नियोजित किया गया है यह मेरी प्रमाणिक मान्यता है। श्रीवर्धमान परम निवृत्तिके उपासक थे। हम भले ही उन पर 'सभी जीव करूं शासन रसी, का आरोप करें, परन्तु वे इस आरोपके पात्र न थे। उनके मन हमारा कल्पित हित और अहित दोनों समान थे। वे परम सत्य तक पहुंचे हुवे थे, इस कारण उनमें निरन्तर उपेक्षा वृत्ति जागृत रहती

थी—अर्थात् उनमें सदैव ¹परम माध्यस्थ भाव रहता था। जो स्थिति परम माध्यस्थ की पराकाष्ठा तक पहुंचे हुये मनुष्यकी होती है वैसी स्थिति श्रीवर्धमानकी थी। उनकी समस्त क्रियायें औदयिक होती थीं। जो योगी झोंपड़ी का घास खाने वाली गायको हटाने में अपने माध्यस्थका भंग समझता हो उस पर लोक कल्याण कर भावना का आरोप देना यह मात्र उसकी यशोवर्धना है। श्रीवर्धमानकी यह परिस्थिति आचांरांगसूत्रके नवमें अध्ययन और सूत्रकृतांग सूत्रमें वीरस्तुति नामक प्रकरणके अनाडम्बरी उल्लेख से साफ साफ मालूम हो जाती है। ऐसी वृत्ति वाले श्रीवर्धमानके हाथसे ही हमारे धर्मकी संगठना या संघ रचना का होना मेरी दृष्टिमें सर्वथा अनुचित मालूम होता है। उस समय श्रीवर्धमान ने जो कुछ लोक जागृति की थी उसका समस्त श्रेय उनके मुनिव्रतको ही था। वर्तमान समयमें महर्षि गांधीके समान कहनेकी अपेक्षा कर

---

१ पारम्पर्येण केवल ज्ञानस्य तावत् फलमौदासीन्यम् ॥८॥ न्यायावतारिका, छठा परिच्छेद। औदासीन्य शब्द का विशेष विवेचन इस सूत्रकी टीका में देखो।

दिखलाने से ही उन्होंने दंभी ब्राह्मणों के बलको नरम करनेकी लौकिक निमित्तता प्राप्त की थी। उनके मध्यस्थ जीवनका उद्देश लोक जागृति न था, परन्तु यह बात सिर्फ अनुद्दिष्ट मेघवर्षण से फलित होनेवाली खेतीके समान उनके चारित्र्य प्रभाव से बन गई थी। उनका जीवन और आचरण मेरे जैसे कक्का घोखने वाले मनुष्य के लिये अनिर्वचनीय है। उनके समयमें उनके सत्य पर अमल करने वाले जो निर्ग्रन्थ थे उनमें से कितने एक तो उनकी वृत्तिसे मिलते हुये थे और जो मुमुक्षु उनकी वृत्तिको प्राप्त करने में असमर्थ थे उनके लिये वर्धमान के कितनेएक अन्तेवासियों-गणधरोंने पारिभाषिक भाषामें कितनेएक नियम बना दिये थे। मेरी धारणा है कि वहाँतक तो छोटे बड़े सब निर्ग्रन्थों का लक्ष्य परम माध्यस्थकी तरफ ही था। जिसे श्रीवर्धमान ने आचार में रक्खा था, उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये उस समयके स्थविरोंने जो नियम घड़े थे उनमें श्रीवर्धमान का सहयोग भी औदयिक दृष्टिसे रहा हो तो यह समयोचित है। समय और कुदरत का यह नियम है कि किसी भी तरह की नियमबद्ध संगठना सिवा नियंत्रणके

स्थिर नहीं रह सकती। यद्यपि वह नियमबद्ध संगठना मात्र परिवर्तन की पात्र है, तथापि नियंत्रणाके कारण वह अपने मूल स्वरूपसे भ्रष्ट नहीं होती। स्थविरोंने जो नियमबद्ध संगठनायें बाँधी थीं वे सिर्फ निर्ग्रन्थों के लिये ही थीं।

वास्तविक निर्विकारि और अनपवादि स्वरूप निम्न लिखे अनुसार है।

१-किसी भी मुमुक्षुने प्राणान्त होने तक किसी प्राणीको दुःख हो वैसी प्रवृत्ति न करना, न कराना और न दूसरेको वैसा करनेकी सम्मति देना।

२-किसी मुमुक्षुने प्राणान्त होने तक असत्य न बोलना, न दूसरे से बुलाना और न ही दूसरे को असत्य बोलने की अनुमति देना।

३-किसी मुमुक्षुने प्राण जाने तक दूसरेकी वस्तु उसके दिये बिना न लेना, न दूसरेसे लिवाना और न ही दूसरेको वैसा करते हुये अनुमति देना।

४-किसी मुमुक्षुने प्राण जाने तक अब्रह्मचर्य न

सेवन करना, न दूसरेसे सेवन कराना और न ही सेवन करने वालेको अनुमति देना।

५-किसी मुमुक्षुने प्राण जाने तक किसी भी वस्तु पर लेशमात्र भी ममत्व न रखना, न रखाना और न ही ममत्व रखने वालेको वैसा करने में सम्मति देना।

इन पाँचों प्रतिज्ञाओं को जीवनमें उतारने के लिये-प्रत्येक प्रतिज्ञा को पूर्णरूप से पालन करने के लिये वे स्थविर-मुमुक्षु अरण्यमें, बागों में, उद्यानमें, गांव बाहर की वसतियों में या खण्डहरोंमें निवास करते थे। जहाँ तक बन सकता तपस्वी-निराहारी रहते थे। आहार लेना पड़ता तो बिलकुल रूखा सूखा ग्रहण करते, सो भी शाक-व्यंजन रहित निरस निर्दोष और परिमित लेते थे। घी, दूध वगैरहः पौष्टिक पदार्थों को वे क्वचित् ही ग्रहण करते थे। गृहस्थों के भोजन कर लेने पर दोपहर के बाद निर्दोष आहार प्राप्त करने का समय अनुकूल समझा जाता था। साधारण नियमानुसार तो विशेषतः निराहारी ही रहना उत्तम गिना जाता था और आहार ग्रहण आपवादिक माना

जाता था। सभी मुमुक्षु पात्र न रखते थे। कितने एक मुमुक्षु मात्र करपात्र थे। वैसा करने में असमर्थ मुमुक्षु मात्र एक या दोही पात्र रखते, सो भी त्यागकी दृष्टिसे मट्टीका पात्र विशेष ठीक माना जाता था। नग्न रहने में ही विशेष त्याग समाया था। अधिक मुनि समुदाय [1]नग्न ही रहता था। परन्तु जो लज्जाको न जीत सके थे वे मात्र एक ही वस्त्र धारण करते थे। स्मरण रखना चाहिये कि उस समय के आदर्श श्रावक भी मात्र दोही वस्त्र[2]—एक धोती और दूसरा खेश परिधान करते थे। ग्राममें निवास करना और गृहस्थियों का विशेष सहवास संयमके प्रतिकूल गिना जाता था। नववाड़ों को पालन करने में विशेष ध्यान

---

१ देखो आगमोदय समितिवाला सूत्रकृतांग सूत्र, उपसर्गाध्ययन गाथा ८-१०, पृ० ८-१०

२ नन्नत्थ एगेणं खोमजुयलेणं, अवसेसं वत्थविहिं पच्चक्खामि,, अर्थात् आनन्द श्रावक चोमयुगल याने सूतके दो वस्त्रके सिवा अधिक वस्त्र ग्रहण न करने का नियम धारण करता है। उपासक दशांगसूत्र, पृ० २ (समितिवाला)

दिया जाता था। (वर्तमान मुनियोंमें कोई विरला ही मुनि मिलेगा जो नववाड़ों को पालन करनेमें ध्यान रखता हो) और विशेष बोलने की अपेक्षा मुनि भावकी ही प्रधानता श्रेयरूप मानी जाती थी।

मुमुक्षु महामुनि अपनी स्वीकृत प्रतिज्ञाओं को जरा भी आंच न आने देते थे और उन्हें पूर्ण करनेके लिये किसी प्रकारके अपवादका आश्रय भी न लेते थे। श्रीवर्धमान इस तरहके समर्थ पुरुषोंमें से एक वीरनर थे। उन्होंने पूर्वोक्त पाँचों ही प्रतिज्ञाओं को जीवन पर्यन्त विशुद्ध रूपसे पालन किया था। वे इसी लिये मुण्डित हुये थे, नग्न रहे थे, करपात्र बने थे और इसी कारण उन्होंने पाशव वृत्ति की ओर से आने वाले संकटों को सहर्ष सहन किया था। इसी प्रकार जो मुमुक्षु वर्धमान की कोटिका सामर्थ्य धारण करते थे, वे भी वर्धमानकी चर्याका अनुसरण करनेमें पीछे न हटते थे। परन्तु जो मुनि वर्धमान की पाठशाला के अभ्यासी थे, जिनमें प्राण जाने पर भी प्रतिज्ञा न जाने पावे ऐसी वृत्ति प्राप्त होने में विलम्ब था, जो पर्वतके समान अक-

म्पता और भूमिके समान सर्व सहनता तक न पहुँचे थे, परन्तु उसके तीव्र अभिलाषी थे वे अपने ध्येय तक ही पहुँचने के लिये कितनीएक छूट ग्रहण करते थे। वह छूट भी और किसी बात में नहीं किन्तु सिर्फ एक दो पात्र रखने और एकाध वस्त्र, सो भी गृहस्थ का वर्ता हुवा रखने की छूट रखते थे। यह छूट लेने पर भी उनकी सदैव यही भावना रहती थी कि हम कब लज्जाको जीत कर सर्वथा यथागत होकर, पात्रकी भी गरज न रख कर संयमका निर्वाह करके अपने उस उच्च लक्ष्य को प्राप्त करेंगे। छूट लेने वाले छूटका समर्थन न करते थे, परन्तु जिस तरह वृद्ध अनुभवी वैद्यकी अनुमति से रोगी औषधि सेवन करता है उसी तरह उसका सेवन करते थे और आतुरता के साथ ऐसे समय की प्रतीक्षा करते रहते थे कि शीघ्र आरोग्य प्राप्त हो और इस औषधि से पीछा छूटे। इस प्रकार का उनका आचार था। यहाँ पर मैं उनके आचार के सम्बन्ध में बहुत कम लिख सका हूँ, परन्तु इस विषय को परिपूर्ण समझने की जिज्ञासा वाले पाठकों से मैं निवेदन करता हूँ कि वे आचारांग सूत्र भाषान्तर आद्योपान्त

पढ़कर अपनी जिज्ञासा पूर्ण कर लें। मुनियों के पूर्वोक्त आचार आज भी विद्यमान आचारांग सूत्र में वैसे ही उल्लिखित हैं। मेरी मान्यता है कि त्यागके पाबन्द आचार्योंने इस उल्लेख के मूल भागमें बहुत कम परिवर्तन होने दिया है। अंगसूत्रोंमें मैंने मुनियोंके आचारके सम्बन्ध में बहुत कुछ पढ़ा है उसमें दीक्षित होनेवाले मुनि के लिये मात्र दो ही उपकरण-एक पात्र और दूसरा रजोहरण ग्रहण करने की बात आती है। मेरा ख्याल है कि दो उपकरण हों या एक दो अधिक हों इसमें विशेष विचारकी कोई बात नहीं है, क्योंकि उन उपकरणों का उपयोग सिर्फ़ औषधि के समान किया जाता था और निरुपकरणी बननेके लिये ही उनकी आवश्यकता थी।

पूर्वोक्त प्रकारसे श्रीवर्धमान, उनके अनुयायी स्थविर और उनका प्रवचन इन सबकी एक समान अनाग्रही एवं स्याद्वादमयी स्थिति होने पर भी वर्तमान में वर्धमान के शासन में एक पक्ष नग्नता का ही पोषण करता है। किसी मुमुक्षु से प्रारम्भमें नग्नता न धारण की जाती हो तो उसकी मुनिता का निशेध करता है।

मेरे देखने मुजब उनके साहित्य में-दिगम्बर ग्रन्थों में आदान समिति और पारिष्ठापनिका समिति की विहितता होने पर भी वे कारणिक वस्त्र पात्रका ऐसा सक्त निषेध करते हैं कि जिसके परिणाम में उन्हें वर्तमान समय में मुनिमार्गका लोप सहन करना पड़ता है। जिस तरह कोई मनुष्य अपने पुत्रको कहे कि तुझे पण्डित परीक्षा उत्तीर्ण करनी है, परन्तु यह ध्यानमें रखना कि वर्णमाला पढ़नेके लिये शिक्षकके पास जानेकी जरूरत नहीं है और न ही पहली, दूसरी, तीसरी एवं क्रमवार नियुक्त की हुई पाठ्य पुस्तकों का अध्ययन करना है, सीधा ही उच्च श्रेणीका पण्डित बनना है। बस इस कथनके समान ही उस पक्षकी मोक्ष मार्गमें वस्त्र पात्र वादके एकान्त निषेधकी आग्रह दशा है। यह समाज नग्नता का पोषक होते हुए भी [1]मूर्तिवाद को स्वीकृत करता है

१-तेरहवीं शताब्दी के एक दिगम्बर पण्डित श्री आशाधर जी ने ३६ सागार धर्मामृत में पृ० ४२० में लिखा है कि यह पंचमकाल धिक्कार का पात्र है, क्योंकि इस कालमें शास्त्राभ्यासियों का भी मंदिर या मूर्तियों के सिवाय निर्वाह नहीं होता।

और उसके लिये वर्तमान में बड़े बड़े मुकदमें करने तक भी नहीं चूकता। यह दशा दिगम्बर जैन समाज की है। श्वेताम्बर पक्ष वस्त्र पात्र-वादको * ही अवलम्बित करता है। उपरोक्त प्रकारसे उसके सूत्र ग्रन्थों में स्पष्टतया अचेलकता का विधान विद्यमान है, तथापि अचेलक शब्दका अनुदरा कन्याके समान अपने लिये अनुकूल अर्थ किया जाता है। जिसके परिणाममें आज इस समाजके मुनि वस्त्रपात्रके गट्ठड़ तक रखने लग गये हैं। इनमेंसे मेरा श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संप्रदाय मूर्तिवाद को ही स्वीकारता है और सो भी यहाँ तक कि मूर्तिके नामसे बड़ी २ दुकानें खोलकर लाखों रुपयोंका धन संग्रह करनेमें ही इन्द्रासन की प्राप्तिका स्वप्न देख रहा है; मूर्तिके ही नामसे विदेशी अदालतोंमें जाकर समाजकी अतुलधन सम्पत्तिका तगार कर

---

* अनेकान्तवाद की दृष्टिसे किसी तरह की मान्यतासे भी हानि नहीं होती, किन्तु 'भी' के स्थान में जो 'ही' घुस गया है उसीने इस अनेकान्त–अपेक्षावाद को विकृत कर कदाग्रहों द्वारा छिन्न भिन्न कर डाला है।

(अनुवादक)

रहा है। यह सम्प्रदाय कंदोरा-कटी सूत्रवाली मूर्तिको ही पसंद करता है, उसे ही मुक्तिका कारण समझता है। वीतराग सन्यासी-फकीर की प्रतिमा को जैसे किसी एक बालक को गहनों से लाद दिया जाता है उसी प्रकार आभूषणों से शृंगारित कर उसकी शोभामें वृद्धि की समझता है और परम योगी वर्धमान या इतर किसी वीतराग की मूर्तिको विदेशी पोशाक जाकिट, कालर, घड़ी वगैरह से सुसज्जित कर उसका खिलौने जितना भी सौन्दर्य नष्ट भ्रष्ट करके अपने मानव जन्मकी सफलता समझ रहा है। इस समाज के कुलगुरुओं ने अपनेको पसंद पड़े हुये वस्त्र पात्र वादके समर्थन के लिये पूर्वके महापुरुषों को भी चीवर धारी बना दिया है और श्रीवर्धमान महाश्रमण की नग्नता न देख पड़े इस प्रकारका प्रयत्न भी किया है। इस विषय के अनेक ग्रन्थ लिख कर वस्त्र पात्र वादको ही मजबूत बनाने की वे आजतक कोशिश कर रहे हैं। उनके लिये आपवादिक माना हुवा वस्त्र पात्र वादका मार्ग औत्सर्गिक मार्गके समान हो गया है। वे इस विषय में यहाँतक दौड़े हैं कि चाहे जैसे अगम्य

जंगलमें, भीषण गुफामें, या चाहे जैसे पर्वतके दुर्गम शिखर पर भावना भाते हुये केवल ज्ञान प्राप्त हुये पुरुष या स्त्रीको जैनी दीक्षाके लिये शासनदेव कपड़े पहनाता है??? और [१]वस्त्रके विना केवल ज्ञानीको अमहाव्रती तथा अचारित्री कहने तक भी नहीं हिच-किचाये। कोई मुनि वस्त्र रहित रहे यह बात उन्हें नहीं रुचती, उन के मन वस्त्रपात्र विना किसीकी गति ही नहीं होती। किसी दस्तोंकी बीमारी वालेको वैद्यने अफीम खानेको कहा हो और फिर वह दरदी हमेशहके लिये अफीमची-अफीमका गुलाम बन गया हो, वैसे ही इस पक्षके मुनि आहार, वस्त्र और पात्रके आपवादिक विधानको पकड़ कर उसके गुलाम बने देख पड़ते हैं। इतने ही

---

१ कुर्मापुत्र नामक मुनि केवल ज्ञान प्राप्त होने पर विचार करता है यदि मैं चारित्र ग्रहण करूं तो पुत्र शोकमें मेरे माता पिताकी मृत्यु हो जायगी।,, १२५, "किसी तीर्थंकर को इन्द्रने पूछा कि यह कुर्मापुत्र केवली महाव्रती कब होगा?,, १७५–कुर्मापुत्र चरित्र देखो। इससे आप समझ सकते हैं कि जैन ग्रंथकार सिर्फ वस्त्र रहित केवली को भी महाव्रती नहीं मानते। जैन कथानुयोग की यह विचित्रता देखने लायक है।

से बस नहीं किन्तु दिन प्रति दिन इन मुनियोंकी आवश्यकतायें, इनके अखराजात इतने बढ़ गये हैं कि समाज उन्हें पूर्ण करते हुये निचड़ गया है, निचड़ता जा रहा है। (साधारण स्थिति के श्रावक बड़े २ नामधारी व पदवीधारी मुनियों का चातुर्मास कराते हुये डरते हैं) वर्तमान समयमें आदर्शमें आदर्श सद्गृहस्थ जिस मितता का सेवन करता है, उससे समानता करें तो अचेलक वर्धमानके मुनियोंका पलड़ा बिल्कुल नीचे नम जाता है। मैं मानता हूँ कि वे अपनी इस तरहकी प्रवृत्तिसे महाश्रमण श्रीवर्धमान और उनके प्रवचनकी घोर आशातना कर रहे हैं। वे इस प्रकारका भीषण मूर्तिवाद स्वीकारते हैं कि जिसमें तमाम प्राणियोंको शान्तिदान देनेवाली वर्तमान समय में अहिंसा देवी भी हामी गई है। वे ज्ञानकी पूजा पढ़ाते हैं, ज्ञानके समक्ष लड्डू, बतासे और पैसे चढ़वाते हैं, परन्तु उनकी सन्तान प्रतिदिन अज्ञान, विद्या-विहीन होती जा रही है, उनका साहित्य बन्द किये भाण्डारों में सड़ता जा रहा है, परन्तु इस ओर लक्ष्य न देकर उन ज्ञानके पुजारियों-पूजा अरियोंने ज्ञान भाण्डारों पर अपने डबल

चावीके ताले लगाकर उसे अपना कैदी बना रक्खा है। जिस तरह ज्ञानके लिये वैदिक धर्ममें वेदोंका ठेका ब्राह्मणों ने ही ले रक्खा है वैसे ही इस पत्तके मुनि (चाहे वे मेरे जैसे गृहस्थके पास ही पढ़े हों) कहते हैं कि सूत्र पढ़नेका अधिकार मात्र हमें ही है—श्रावकों को नहीं। उनकी धार्मिक संपत्ति में परम निर्ग्रन्थता, आदर्श श्रावकता, उच्च जीवन, अनाग्रही जीवन, परम अहिंसकता, प्रमाणिकता, मार्गानुसारिता, इत्यादि सद्गुणों के बदले विलासी साधुता, नामकी श्रावकता, चेलोंकी वृद्धि, पुस्तकोंकी ममता, अयुक्त पदवियों का मिथ्या आडम्बर, गुणी और गुणकी ओर ईर्ष्यालुता, बड़े बड़े देवालयं, अचेलक और परम तपस्वी तीर्थंकरों के लाखों रुपयोंके जेवर तथा शत्रुंजयवासी आदीश्वरका कई लाखका जवाहराती मुकुट है। मुझे अपने इस कमनसीब समाजकी दुर्दशाका चित्र खींचते हुये बड़ा दुःख होता है। मैं यह भी मानता हूँ कि यदि ऐसे समयमें जबकि सारा समाज विचार शून्य होकर गतानुगतिक के प्रवाहमें बहा जा रहा है, कोई विचारक अपने पूर्वजोंके वचनोंका अनु-कूलतानुसार उपयोग करनेका प्रयत्न करे तो

संभव है कि उसकी और भी खराब स्थिति हो जाय। इस श्वेताम्बर पक्षमें एक और पन्थ है, जिसे स्थानकवासी के नाम से पहचानते हैं। यह संप्रदाय मूर्तिवादको नहीं मानता। इसके साधुओंमें कहीं २ पर त्यागकी भावना देख पड़ती है, परन्तु वर्तमानमें वे भी अपने लक्ष्यसे विलक्ष्य हो फैशन की ओर खिंचे जा रहे हैं। मेरी मान्यताके अनुसार मूर्तिवादको सर्वथा अविधेय मानना भी अनुचित है। ऐसा करनेसे बहुत से बालजीवोंके जीवनविकाश में बाधा पड़ती है, "भक्तिमार्ग का अवलम्बन करने वालों का कल्याण अटक जाता है"। खैर, करे सो भरे और जैसा बोवे वैसा काटे। मुझे सबसे विशेष यह बात खटकती है कि इन तीनों पक्षवालों ने भले ही अपने २ अनुकूल जुदे २ मन्तव्य प्रचलित किये, परन्तु इन्होंने उन मन्तव्यों को वर्धमान के नाम पर चढ़ाने का जो साहस किया है उसे मैं भयंकर पाप-अपराध-अन्याय मानता हूँ और यह अपराध करते हुये उन्होंने अपनी अनुकूलतानुसार संकलित किये हुये अपने २ मन्तव्य का जो एकान्त समर्थन और परस्पर

इतर का तिरस्कार किया है इसे मैं महा भीषण तमस्तरण की भगिनी समझता हूँ।

पाठक प्रश्न करेंगे कि इस तरह रजसे गज बनने और राईसे पर्वत बननेका हेतु क्या है? उत्तर में मुझे नम्रता पूर्वक कहना पड़ेगा कि इसका एक मात्र हेतु **जैन साहित्य का विकार** है। साहित्यमें समय समय पर परिवर्तन होना स्वाभाविक है, परन्तु जो परिवर्तन अनिष्टाकार में होता है उसका परिणाम समाज के हितके बदले विनाश में उपस्थित होता है।

शरीर में चढ़ा हुवा सोजा एक भीषण व्याधि माना जाता है, वैसे ही साहित्य पर चढ़ा हुवा एकान्तताका और अनुकूलता—स्वाच्छन्द्यका सोज़ा भी उतना ही भयंकर ह। साहित्य के सोजेको उतारनेके लिये यदि कोई अमोघ उपाय हो तो वह उसका यथातथ्य इतिहास है। यहाँ पर मुझे पाठकोंके समक्ष साहित्यके साथ सम्बन्ध रखनेवाली समस्त ऐतिहासिक परिस्थितिके कथन करनेका अवकाश नहीं है, तथापि अपने निबन्धके मूल मुद्दोंको पृथक्करण पूर्वक व्यौरेवार विवेचन करना मैं अपना कर्तव्य

समझता हूँ। उन मुद्दोंका क्रम मैंने इस प्रकार रक्खा है। १ श्वेताम्बर दिगम्बरवाद, २ चैत्य-वाद, ३ देवद्रव्यवाद, और ४ आगमवाद। मेरा सारा व्याख्यान (यह निबन्ध) इन चारों मुद्दों में ही पूर्ण होगा।

पहले मुद्देमें दिगम्बर श्वेताम्बर के इति-हास को प्रकाशित करना है। उसमें दोनों मतों के मूल कारणके सम्बन्धमें विशेष गवेपणा पूर्वक विचार करना है और साथ ही इस बात का भी विचार करना है कि अंगसूत्रों में इस विषयमें क्या २ प्रतिपादन किया गया है, एवं श्वेताम्बर दिगम्बरोंके संप्रदाय भिन्न हुये बाद जैन शासन को कैसी २ खराब स्थितियोंमें से गमन करना पड़ा है।

दूसरे मुद्देमें चैत्यवाद पर प्रकाश डाला जायगा। उसमें मुख्य तया अनेक प्रमाणों सहित चैत्यवाद का मूल अर्थ समझाया जायगा और साथ ही यह भी बतलाया जायगा कि अंग-सूत्रोंमें चैत्य शब्द किस २ जगह कैसे कैसे अर्थोंमें उपयुक्त किया गया है। चैत्यकी उप-योगिता और उसका मूर्तिपूजाके इतिहासके

साथ क्या सम्बन्ध है इस बातका भी स्पष्टी-करण किया जायगा, एवं इस दूसरे मुद्देमें मूर्ति पूजाकी आवश्यकता बतलाये बाद मूर्ति कैसी होनी चाहिये ? उसे कहाँ रखना चाहिये ? वह नग्न होनी चाहिये या कन्दोरे वाली–कटी सूत्र वाली होनी चाहिये ? इत्यादि मूर्ति विषयक अनेक प्रश्न, प्रमाण पूर्वक स्पष्ट करदेना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ ।

तीसरे में देवद्रव्य के सम्बन्ध में चर्चा होगी । वह कल्पित है या अहिंसा वगैरह के समान अपरिवर्तनीय तत्व है ? अंगसूत्रों में उसका विधान या उल्लेख है वा नहीं ? उसकी उत्पत्ति या प्रारंभ कबसे हुवा किसने और किस लिये किया ? इत्यादि विषयों पर व्योरे-वार विचार किये बाद देवद्रव्य का वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में खुलासा करनेका यथामति प्रयत्न किया जायगा । बीचमें ही प्रसंगोपात देवद्रव्य के साथ सम्बन्ध रखने वाली कितनीएक कथाओंकी शास्त्रीय असंगतता बतला कर जैन कथानुयोग के सम्बन्ध में भी दो शब्द लिखे जायँगे ।

चौथे मुद्देमें यह लिखा जायगा कि सूत्रों को क्या साधु ही पढ़ सकते हैं? क्या सचमुच ही श्रावकों को सूत्र पढ़नेका अधिकार नहीं है? आगम पढ़ाने के लिये वर्तमान समयमें जो उपधानकी प्रथा प्रचलित है वह कबसे चली? क्यों चली? साधुओं को ही आगम पढ़ने का प्रमाण पत्र या पट्टा किसने लिख कर दिया? इस विषयमें मुनियोंके आचार सूत्रोंमें या अन्य ग्रन्थोंमें क्या लिखा है?। इस प्रकार मुझे इन चारों मुद्दों पर अनुक्रम पूर्वक विवेचन करके इस चर्चा के सम्बन्धमें अपना निर्णय समाजके समक्ष रखना है।

श्वेताम्बर दिगम्बरवाद।

श्वेताम्बर और दिगम्बर ये दोनों शब्द जैन संप्रदायके श्रमणोपासकों-श्रावकोंके साथ जरा भी सम्बन्ध नहीं रखते। यदि उनके साथ सम्बन्ध लगाया भी जाय तो दोनों शब्दों का उनमें प्रवृत्तिकारण न घटनेसे उनके लिये ये दोनों शब्द निरर्थक से ही हैं। उनमें श्वेताम्बरत्व या दिगम्बरत्व सूचित करनेवाला एक भी चिन्ह न होने से श्वेताम्बर और दिगम्बर संज्ञा वर्षाती कीड़ेको इंद्रगोप (इंद्रका पालन करने वाला) कहने के समान पारम्परिक रूढ़ और अर्थ शून्य है। यदि श्वेताम्बर कहलाने वाले गृहस्थ मात्र श्वेत ही वस्त्र पहनते हों और दिगम्बर कहलाने वाले नग्न ही रहते हों तो उनके लिये उपरोक्त शब्दका व्यवहार किया जा सकता है, यह व्युत्पत्ति शास्त्रका नियम है। इससे मैं यह अनुमान कर सकता हूँ कि इन शब्दोंकी प्रवृत्ति चाहे तब हुई हो, परन्तु उसका मूल कारण हमारे मुनिराज ही होने चाहियें। इन शब्दोंके मूल प्रवर्तक साधु मुनियों को

वर्तमान सरकारकी ओरसे धन्यवाद मिलना चाहिये, कि जिसके परिणाममें वह अदालतों के द्वारा दोनों समाजोंसे लाखों रुपये कमा रही है। श्वेताम्बर और दिगम्बर संज्ञाका सम्बन्ध मुनियोंकी चर्याके साथ ही है, इससे और भी एक बात मालूम हो जाती है और वह यह कि- उस समय दोनोंके श्रमणोपासकों की चर्यामें कुछ भी भेद न होगा। वर्तमानमें जो भेद देख पड़ता है यह उन्हीं तपोधनों के दुराग्रहरूप तालवृक्षका रस है जिन्होंने साधारण-प्रकारके भेदको भी एक मार्गरूप से पकड़ रक्खा होगा। इस बातकी यथार्थता का अनुभव तो तभी हो सकता है जब कि हमारा पीया हुआ कदाग्रह-तालवृक्ष रसका नसा उतर सके।

श्वेताम्बरोंके सूत्र कहते हैं कि वस्त्र और पात्र भी रखने चाहियें, इसके बिना दुर्बल, सुकुमार और रोगियोंके लिये संयम दुराराध्य है। यदि साधु वस्त्र न रक्खें तो ठंडीके मौसम में असहनशील साधुओंकी क्या दशा हो? अग्नि सुलगाकर तापनेमें जो हिंसा लगती है वस्त्र रखनेमें उतनी हिंसाका संभव-नहीं है।

मुनियोंको विशेषतः जंगलोंमें रहनेके कारण वहाँ पर डाँस मच्छर आदि जन्तुओंका उपद्रव होनेका विशेष संभव है, अतः जो मुनि इतना दुःख न सह सकता हो यदि वह वस्त्रादि न रक्खे तो उसे विना कारण संयम पालने से पीछे हटना पड़ता है। तथा जिस मुनिने लज्जा को नहीं जीता है उसे भी वस्त्र रखने की आवश्यकता है। क्योंकि वह मुनि फटा टूटा वा पुराना, मैला कुचैला या किसीका उतरा हुआ वस्त्र अपनी कमर पर लपेट कर लज्जाको जितनेका प्रयास कर सकता है। जब उसे जरा भी लोकलाज का भय न रहे तब वह यदि वस्त्र न रक्खे तो वैसा हो सकता है। इसी प्रकार पात्र रखने में भी संयम की ही साधना समाई हुई है। आहार करते समय मात्र हाथ ही में लेकर स्निग्ध और द्रवित पदार्थ खानेसे उसका कितनाएक हिस्सा नीचे भी गिर जाता है और उससे कल्पित दृष्टिसे हिंसा का विशेष संभव है। तथा जो मुनि बीमार हो, बिस्तर से उठ न सकता हो उसका भी पात्र बिना निर्वाह नहीं हो सकता। यदि पात्र हो तो उसके लिये दूसरा मुनि पात्र द्वारा तदुचित आहार पानी ला

सकता है, एवं पात्र होनेसे ही उसके सौच वगैरह कर्म हो सकते हैं। जो साधु वस्त्र पात्र रक्खे बिना निर्दोष संयम पाल सकते हैं उनके लिये वस्त्र पात्र रखनेकी कोई राजाज्ञा नहीं है। विक्रमकी ७ वीं ८ वीं शताब्दी तक तो साधु कारण पड़ने पर ही वस्त्र रखते थे, सो भी मात्र एक कटीवस्त्र ही रखते और यदि वह कटीवस्त्र भी निष्कारण पहना जाता तो वह साधु कुसाधु माना जाता था। इस विषयमें श्री हरिभद्र सूरिजी ने अपने संबोध प्रकरण में इस प्रकार उल्लेख किया है।

"कीवो न कुणइ लोयं, लज्जइ पडिमाइ जल्ल मुवणेइ। सोवाहणो य हिंडइ बंधइ कडिपट्ट-यमकज्जे" (संबोध प्रकरण पृ० १४)

अपने समय के कुसाधुओंका स्वरूप दर्शाते हुये श्री हरिभद्रसूरि ने उपरोक्त गाथामें बतलाया है कि "क्लीब-दुर्बल श्रमण लोच नहीं करते, प्रतिमा वहन करते शर्माते हैं, शरीर पर का मल उतारते हैं, पैरोंमें जूना पहन कर चलते हैं और-बिना प्रयोजन कटी वस्त्र बांधते हैं।

इस प्रकार साधुओंको एक कटिवस्त्र ही रखने की बात साबित होती है और सो भी सूत्र साहित्य की संकलना हुये बादके ग्रन्थोंसे, याने अर्वाचिन ग्रन्थोंसे प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में आचारांग सूत्रमें लिखा है कि जो साधु वस्त्र नहीं रखता उसे यह चिन्ता नहीं रहती कि-मेरा वस्त्र फट गया, दूसरा वस्त्र मांगना पड़ेगा, सूत मांगना पड़ेगा, सूई मांगनी पड़ेगी, वस्त्र सीना पड़ेगा, पहनना पड़ेगा इत्यादि (३६०)

"वस्त्र रहित रहनेवाले मुनियों को कदाचित् तृण कांटे, ठंडी, ताप लगने, डांस, मच्छर वगैरहका कष्ट सहना पड़े, परन्तु ऐसा करनेसे लाघव (अल्प चिन्ता-निरुपाधिकता) प्राप्त होती है और तप भी होता है" (३६१)।

"अतः जो भगवानने कथन किया है उसी को समझ कर ज्यों बने त्यों सब जगह समानता जानते रहना, (३६२)

आचारांग सूत्रके उपरोक्त उल्लेख से यह बात साफ मालूम होती है कि समर्थ एवं सहन

शील मुनि सर्वथा नग्न रहते थे और भगवान की बतलाई हुई समता को कायम रखने का भरशक प्रयत्न करते थे। उस सूत्रमें ऐसा एक ही नहीं किन्तु अनेक उल्लेख मिलते हैं। उसमें दूसरे श्रुतस्कन्ध विभागमें वस्त्रैषणा नामक एक प्रकरण आता है, जिसमें मुनिको कैसे वस्त्र और क्यों लेने चाहियें इस विषय का ब्योरे-वार स्पष्टीकरण किया है। वहाँ बतलाया गया है कि-"तीसरी प्रतिज्ञा-साधु या साध्वीको जो वस्त्र गृहस्थी ने अन्दर पहन कर वर्त लिया हो वा ऊपर पहन कर वर्त लिया हो उस तरहका वस्त्र गृहस्थी से मांग लेना अथवा गृहस्थ स्वयं देवे तो निर्दोष समझ कर ग्रहण करना। (८१३)

"चौथी प्रतिज्ञा—मुनि या आर्याको फेंक देने लायक वस्त्र मांगना चाहिये, याने जिस वस्त्रको अन्य कोई भी श्रमण, मुसाफर, रंक या भिखारी न चाहे वैसा वस्त्र मांग लेना या गृहस्थ स्वयं देवे तो निर्दोष मालूम होने पर ग्रहण करना। (८२४)

उस सूत्रमें वस्त्र रखने के कारण बतलाते हुये कहा गया है कि-जो साधु वस्त्र

रहित–नग्न होता है उसे यह मालूम होता है कि मैं घासका या कांटेका स्पर्श सह सकता हूँ, शीत, ताप, डांस, तथा मच्छरों के उपद्रवको सहन कर सकता हूँ, एवं अन्य भी प्रतिकूल, अनुकूल परिषह सह सकता हूँ। परन्तु नग्न रहते हुये लज्जा परिषहको सहन न कर सकने वाला मुनि कटि-बन्धन–कटिवस्त्र रक्खे। (४३३)

"यदि लज्जाको जीत सकता हो तो अचेल (नग्न दिगम्बर) ही रहना। वैसे रहते हुये तृणस्पर्श, शीत, ताप, डांस, मच्छर तथा अन्य भी जो अनेक परिषह आवें उन्हें सहन करना, ऐसा करनेसे अनुपाधिकता–लाघव प्राप्त होता है और तप भी होता है। अतः जैसा भगवानने कहा है उसीको समझ कर ज्यों बने त्यों सब जगह समता समझते रहना" (४३२)

कितनेएक मुनि एक वस्त्र और एक ही पात्र रखते थे या दो वस्त्र और दो ही पात्र रखते थे। इस विषयमें निम्न उल्लेख में बतलाया गया है कि—

"जिस साधुके पास पात्रके साथ मात्र एक

ही वस्त्र हो उसे यह चिन्ता न होगी कि मैं दूसरा वस्त्र माँगूगा। वह मुनि निरवद्य वस्त्र की याचना करे और जैसा मिले वैसा पहने। यावत् ग्रीष्मर्तु आने पर उस जीर्ण वस्त्रका परित्याग कर दे, अथवा वह एक वस्त्र पहने। परन्तु अन्तमें उसे छोड़ कर वस्त्र रहित हो निश्चिन्त हो जाय। ऐसा करने से उसे तप प्राप्त होता है। अतः जैसा भगवानने कथन किया है उसे ही समझ कर ज्यों बने त्यों सर्वत्र समता समझते रहना" (४२६)

"जिस मुनिके पास पात्रके साथ दो वस्त्र हों उसका यह भाव न होगा कि मैं तीसरा वस्त्र माँगूगा। यदि दो वस्त्र न हों तो यथायोग्य वस्त्र मांग लेना और जैसा मिले वैसा ही पहनना। इस प्रकार साधुका आचार है" (४२४)।

"जो साधु यह माने कि शीतर्तु बीत गई, ग्रीष्मर्तु आगई है, वह उन-परिजीर्ण वस्त्रों को परठ दे-त्याग दे या समय पर-कारण पड़ने पर पहने या कम करदे, याने एक वस्त्र रक्खे और अन्तमें उसे भी छोड़ कर वस्त्ररहित दिगम्बर होकर निश्चिन्त बने। ऐसा करते हुए

तप प्राप्त होता है, अतः जैसा भगवानने कथन किया है उसे वैसा समझ कर ज्यों बने त्यों सर्वत्र समता समझना" (४२५)।

जो मुनि सहनशीलता के अभावसे या लज्जाके कारण एक या दो वस्त्र रखते हैं, वैसे वस्त्रधारी साधुओंके विषयमें आचारांग सूत्रमें निम्न लिखे मुजब बतलाया है।

"भिक्षु या भिक्षुणी एषणीय वस्त्रोंकी याचना करे, जैसा मिले वैसा पहने, परन्तु उसमें सुधार न करे, तथा उसे धोना या रंगना नहीं। यदि धोया हुआ या रंगा हुआ हो तो पहनना नहीं एवं ग्रामान्तर जाते समय वह अल्पवस्त्री मुनि उसे छिपाये नहीं, वस्त्रधारी मुनिका यही आचार है" (८३२)।

स्थानांग सूत्रमें भी वस्त्र रखनेके यही कारण बताये हैं, जैसे कि "ये तीन कारण हों तो साधुने" (वत्थं) एक वस्त्र धारण करना, लज्जा, घृणा और परिषह, अर्थात् जो साधु लज्जा, घृणाको नहीं जीत सका है और संकटों को सहन नहीं कर सकता वह एक वस्त्र धारण करे।

जो कारण वस्त्र रखने के ऊपर बतलाये हैं वैसे ही पात्र रखने के कारण भी सूत्र ग्रन्थोंमें उल्लिखित हैं। इस विषयमें भी आचारांग सूत्र के पूर्वोक्त पात्रैषणा, नामक प्रकरणमें निम्न लिखित उल्लेख मिलता है।

"मुनि या आर्याको जब कभी पात्रकी आवश्यकता पड़े उस समय तुंबीपात्र या मट्टीका पात्र अथवा इसी तरहका कोई भी पात्र ग्रहण करना। जो मुनि युवा या मजबूत बाँधे वाला हो उसे मात्र एक ही पात्र रखना चाहिये, दूसरा नहीं।" (८४१)

उपरोक्त विषयको पुष्ट करने वाला स्थानांगसूत्रमें भी निम्न उल्लेख पाया जाता है—

निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी तीन प्रकारके पात्रों को उपयुक्त कर सकते हैं, तूंबी पात्र, काष्ठ पात्र और मृत्तिका पात्र,, पात्र रखनेके कारण बतलाते हुये स्थानांगसूत्रकी बारहवीं शताब्दीकी रचित टिकामें भी निम्न उल्लेख मिलता है।

"असक्त, बाल, वृद्ध, नवीन दीक्षित भिक्षु, अतिथि, गुरु और सहनशील वर्ग इन सबके

लिये पात्र रखनेकी आवश्यकता है, तथा साधारण साधु समुदायके लिये और जो साधु विना-पात्र निरवद्य रीतिसे आहार न कर सकता हो उसके लिये भी पात्र की आवश्यकता है।"

१—"जे अचेले परिवुसिए, तस्सणं भिक्खुस्स णो एवं भवइ:—परिजिन्ने मे वत्थे, वत्थे जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि. वोक्कसिस्सामि, परिहरिस्सामि पाउणिस्सामि"। (३६०)

"अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंस—मसगफासा फुसंति, एगयरे, अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति। अचेले लाघवं आगममाणे, तवे से अभिसमण्णागए भवति" (३६१)

"जहेयं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया"। (३६२)

२—"अहावरा तच्चा पडिमा—से भिक्खूवा भिक्खूणीवा, से जं पुण वत्थं जाणेज्जा। तंजहा—अंतरिज्जगं वा उत्तरिज्जगंवा, तहप्पगारं वत्थं सयं वा णं जाणेज्जा, जावपडिग्गहेज्जा। तच्चा पडिमा" (८१३)

अहावरा चउत्था पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खूणी वा उज्झियधम्मियं वत्थं जाइज्जा। जं चऽण्णे बहवे समण—माहण—अतिहि-किवण-वणी-मगाणावकंखंति। तहप्पगारं उज्झियधम्मियं वत्थं सयं वाणं जाणेज्जा, पेरा वा से देज्जा, फासुयं जाव पडिग्गहेज्जा। चउत्था पडिमा" (८१४)

३—"जे भिक्खू अचेले परिवुसिते, तस्स णं एवं भवति, चाएमि अहं तणफासं अहियासित्तए, सीयफासं अहियासित्तए, तेउफासं अहियासित्तए, दंस-मंसगफासं अहियासित्तए, एगयरे, अन्नतरे विरूव-रूवे फासे अहियासित्तए; हिरिपडिच्छादणं च णो संचाएमि अहियासित्तए, एवं से कप्पति कडिबंधणं धारित्तए" (४३३)

"अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंस-मसगफासा फुसंति एगयरे, अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति। अचेले लाघवियं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवति। जहेतं भगवया पवेदियं तमेव अभिसमेच्चा सव्वओ स व्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया" (४३४)

४—"जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिते पायवितिएण, तस्स णो एवं भवइ-वितियं वत्थं जाइस्सामि। से अहेसणिज्जं वत्थं जाएज्जा, अहापरिग्गहियं वा वत्थं धारेज्जा-जाव गिम्हे पडिवन्ने, अहापरिजुन्नं वत्थं परिट्ठवेज्जा। अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ। जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमेच्चा सव्वाओ सव्वत्ताए समत्तमेव, समभिजाणिया" (४२६)

"से भिक्खू दोहिं वत्थेहिं परिवुसिते पाततितिएहिं, तस्सणं णो एवं भवति, ततियं वत्थं जाइस्सामि। से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा जाव-एवं खलु तस्स भिक्खूस्स सामग्गियं" (४२४)

"अह पुण एवं जाणेज्जा, उवकंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवन्ने, अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिठ्ठवेज्जा, अदुवा संतरुतरे, अदुवा ओमचेलए, अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे, तवे से अभिसमण्णागए भवति। जहेयं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव अभिजाणिया" (४२२)

५—"से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, अहापरिग्गहाइं वत्थाइं धारेज्जा,

णो धोएज्जा, णो रंगेज्जा, णो धोय-रत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा, अपलिउंचमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए। एतं खलु वत्थाधारिस्स सामग्गियं" (८३२)

६—"तीहिं ठाणेहिं वत्थं धरेज्जा, तंजहा–हिरिपत्तितं दुगुंछापत्तियं, परीसहवत्तियं" (१७१)

७—"से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा पायं एसित्तए। से जं पुण पायं जाणेज्जा, तंजहा–अलाउपायं वा, दारुपायं वा, मट्टियापायं वा, तहप्पगारं पायं। जे निग्गंथे तरुणे जाव थिरसंघयणे, से एगं पायं धारेज्जा, णो बीयं" (८४१)

८—"कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा ततो ततो पायाइं धारित्तते वा, परिहरित्तते वा, तंजहा–लाउयपादे वा, दारुपादे वा, मट्टियापादे वा"। (१७०)

१ पृष्ठ ६४ से ६५, २ पृ० १८६ से १८७, ३ पृ० ८३, ४ पृ० ८१–७६–८०, ५ पृ० १६१, ६ स्थानांग सूत्र समितिवाला पृ० १३७, ७ पृ० १६४ आचारांग सूत्र (रवजी भाई वाला मूल और भाषान्तर) ८ पृ० १३६, स्थानांग सूत्र (समितिवाला)।

इस प्रकार श्वेताम्बरोंके इन प्रामाणिक सूत्र ग्रन्थोंमें कहीं भी यह मालूम नहीं देता कि वस्त्र पात्रके ही लिये आग्रह किया गया हो, या उसके सिवा संयम हो ही नहीं सकता, मुक्ति मिल ही नहीं सकती वा वस्त्र पात्रके बिना कल्याण ही नहीं होता, इस बातका आग्रह करनें वाला कोई भी लेख नहीं मिलता। सूत्रों में साफ यह बतलाया गया है कि जो मुनि वस्त्र पात्र बिना भी निर्दोष संयम पाल सकता हो उसके लिये वस्त्र पात्र की कोई आवश्यकता नहीं है और जो साधु वस्त्र पात्रके बिना संयम पालनेंकी शक्तिको प्राप्त न कर सका हो वह यदि वस्त्र पात्र—एक या दो वस्त्र और एकाध पात्र रक्खे तो भी कोई हरकत नहीं है। दोनों का ध्येय संयम है, त्याग और आत्मश्रेय है। वस्त्र पात्र रखने वालेको वस्त्रपात्र का गुलाम नहीं बनना और नग्न रहने वालेको नग्नता का गुलाम नहीं बनना चाहिये। तात्पर्य यह है कि किसी भी स्थितिका दास न बन कर और एकान्त दुराग्रह न करके जितनी आवश्यकतायें कम हो सकें वैसा प्रयत्न करना है। इसी प्रयत्नवाले मार्गका अनुसरण श्रीवर्धमान

ने किया था और यही आर्य ग्रन्थोंमें उल्लिखित है, इसी मार्गमें त्याग और आत्मस्वातंत्र्य है एवं घर गृहस्थी छोड़नेका सार भी इसीमें समाया है।

जहाँतक मैं समझता हूँ ऊपर कथन किये मुजब इस सम्बन्धमें दिगम्बर ग्रन्थोंके प्रमाण देनेका विशेष अवकाश नहीं रहता, अर्थात् पूर्वोक्त प्रमाणिक और प्राचीन सूत्र ग्रन्थोंके उल्लेख से इस विषय पर काफी प्रकाश पड़चुका है, तथापि एकान्त नग्नतावाद को माननेवाले दिगम्बर संप्रदायके ग्रन्थों पर भी दृष्टिपात कर लीजिये क्या इस बातका बुद्धि स्वीकार कर सकती है कि उन ग्रन्थोंमें यह लिखा हो-मुनि बीमार पड़ा हो, चाहे मरता ही क्यों न हो तथापि उसे कपड़ेके चीथड़े तक को हाथ न लगाना चाहिये? वह रुग्णावस्थामें बिस्तर पर ही भले टट्टी पिसाब करता हो, तथापि वह एक मट्टीके ठीकरे तकको स्पर्श न करे? उग्र संयमके पोषक दिगम्बर ग्रन्थोंने भी जिस तरह मुनियों को खाने पीने की छूट दी है वैसे ही मात्र संयम के लिये वस्त्र पात्रकी भी छूट देनी उचित है। यदि उन

ग्रन्थोंमें संयम के निमित्त इस प्रकारका विधान सर्वथा न हो तो मैं समझता हूँ कि वह उनके रचयिताकी त्रुटि है। अभ्यासी एवं तदिच्छुक मनुष्योंके लिये ऐसी कोई स्थिति क्वचित ही होगी, जिसमें एकाध छूट रक्खे विना उनका निर्वाह हो सके। जहाँ तक बने वहाँ तक समताको कायम रखते हुए गमन करना यह तो सही है परन्तु जब उस समताके ही गुम होने की नौबत आवे उस वक्त मात्र उसे स्थिर रखने के लिये औषधिके समान वस्त्र पात्र रखनेकी मनाई किसी भी आचार साहित्यमें संभावित नहीं होती। दिगम्बरोंके राजवार्तिक और ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थोंमें आदान समिति और पारिष्ठापनिका समितिके नाम देखनेमें आते हैं, एवं उन पर विवेचन भी किया गया है, अतः वस्त्र पात्र के सम्बन्धमें दिगम्बरों की मान्यता के बारेमें मैंने जो उपरोक्त कल्पना की है उसे विशेष पुष्टी मिलती है। राजवार्तिक में २७१ पृष्ठ पर इस विषय में इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

"वाङ्मनोगुप्ति–इर्या–आदान निक्षेपण समिति आलोकित पान भोजनानि पंच" ॥८॥

अर्थात् अहिंसारूप महा उद्यानकी रक्षा करने वालेको उसके चारों ओर पाँच वाड़ें करनी हैं, और वे इस प्रकार हैं—वाणीका संयम, मनका संयम, किसी वस्तुको उठाते रखते—याने उपकरणोंको उठाते और रखते समय सावधानता और आलोकित खानपान में सावधानता रखना। इस उल्लेखमें खान पानकी सावधानता को जुदा लिखा है, इससे आदान निक्षेपणमें उसका सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, इस कारण चौथी वाड़का सम्बन्ध निर्ग्रन्थोंके उपकरणोंके साथ (वस्त्र पात्रादिके साथ) संगत और उचित मालूम देता है। ज्ञानार्णवमें १६० वें पृष्ठ पर इसी विषय को इस प्रकार बतलाया है—

"शय्याऽऽसनो—पधानानि शास्त्रोपकरणानि च। पूर्वं सम्यक् समालोच्य प्रति लिख्य पुनः पुनः ॥१२॥ गृह्णतोऽस्य प्रयत्नेन क्षिपतो वा धरातले। भवत्यविकला साधोरादान समितिः स्फुटम्" ॥१२॥

अर्थात् शय्या आसन, तकिया, शास्त्रकी हिफा-
जत करनेवाले उपकरण, इन सबको अच्छी तरह
देखभाल कर-ज़मीन को साफ देखकर रखते हुये
और उठाते हुए साधु आदान समिति को अवि-
कलतया पाल सकता है, इसी प्रकरण में व्युत्सर्ग
समिति-निक्षेपणा समिति का भी उल्लेख है। उप-
रोक्त ज्ञानार्णवका उपकरणों से लगता हुवा उल्लेख
शास्त्रोपकरणों का भी निर्देश करता है, तब फिर
शारीरिक उपकरणों—सिर्फ औषधिवत् उपयोगमें
आने वाले वस्त्र पात्र का एकान्तिक निषेध किस
तरह किया जाय ? वर्धमान के नामसे चलनेवाले
प्रवचन में, उसमें निर्दोष बाह्य सामग्री में किसी
भी जगह एकान्तता का सम्भव नहीं होता,
क्यों कि इस प्रवचन का नाम ही अनेकान्त
दर्शन है। तथापि यदि वर्धमान के नामसे प्रच
लित बही खातेमें उनके मुनीमने इस तरहकी
बाह्य सामग्री में भी कहीं पर एकान्तता का
अंक संमिश्रित कर दिया हो तो मैं कमसे कम
यह मानने के लिये तैयार नहीं हूँ कि उस बही
खातेका वहिवट वर्धमानानुगामी है। चाहे वह
श्वेताम्बरोंका हो या दिगम्बरोंका।

इससे पाठक स्वयं समझ सकेंगे कि श्वेताम्बरता और दिगम्बरताकी दीवार केवल आग्रहकी नींव पर ही चिनी गई है। वस्त्र पात्र के लिये दोनों संप्रदाय के प्राचीन ग्रन्थोंका एकसा ही अभिप्राय है, तथापि वर्तमानमें इस विषय में दोनों संप्रदायों में जो भीषण मतभेद देख पड़ता है उसका मूल कारण, दोनों संप्रदाय के पूर्व धर्मगुरुओं और आजकल के कुलगुरुओं का दुराग्रह, स्वाच्छन्द्य, शैथिल्य और मुमुक्षुता का अभाव इत्यादि के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। किसी एक ऐसे विद्वान को जिसे श्वेताम्बर और दिगम्बरता की अभी तक बू भी न लगी हो दोनों संप्रदाय के प्राचीन ग्रन्थोंमें बतलाये हुये आचार विभागका अध्ययन करने का कार्य सौंपा जाय तो वह उनका अध्ययन करने पर इस बातका निर्णय करनेकी उलझन में पड़ जायगा कि इनमें कौनसा श्वेताम्बर और कौनसा दिगम्बर ग्रन्थ है, इतनी साम्यता है। क्या कोई साधारण बुद्धि वाला मनुष्य यह बतला सकता है कि जो क्रीश्चियन छुरी कांटेसे खाते हैं और जो क्रीश्चियन हाथसे खाते हैं वे दोनों जुदे जुदे धर्म वाले हैं, या एक हस्तभोजी

मतका क्रीश्चियन और दूसरा छुरीकांटा मत का क्रीश्चियन है। यदि ये दोनों क्रीश्चियन जुदे-जुदे हो सकते हैं तब ही श्वेताम्बर और दिगम्बर जुदे २ हो सकते हैं। अन्यथा उनकी जुदाई तो दूर रही परन्तु उनके श्वेताम्बर और दिगम्बर नाम तक भी संभवित नहीं होते।

अब हमे श्वेताम्बरता और दिगम्बरता की जड़की ओर दृष्टि फेरनी चाहिये कि जिसका अबसे २०००-२२०० वर्ष पहले अंकूर फूटा था और तभीसे उस पर आग्रह का जल डाल २ कर उसे पुष्ट एवं सुदृढ़ किया गया है। यह बात तो हम सुनते ही हैं कि श्री वर्धमान के समय भगवान पार्श्वनाथ के साधु भी थे, जिन्हें कि ऋजु प्राज्ञ मानते हैं। जहाँ तक मैं समझता हूँ सभ्य संसार में यह असंभवित है कि जो विवेकी और सरल हो वह जड़ और वक्रकी अपेक्षा अधिक आराम तलब हो या आराम-तलबी की विशेष छूट ले। मेरी मान्यताके अनु-सार जड़ और वक्र मनुष्यों की अपेक्षा ऋजु और प्राज्ञ पुरुषों पर विशेष जवाबदारी रहती है। जिस तरहका आचरण वे करेंगे वैसे ही

आचरण की तरफ वक्र और जड़ बुद्धि वाले मनुष्यों की प्रवृत्ति होगी। वक्र और जड़ बुद्धि-वालों को तो यह बचाव करनेकी छूट है कि जैसा विवेकी आचरण करें वैसा ही करना हमारे लिये भी हितकर है। ऐसा होनेके कारण विवेकी और सरल मनुष्यों को अपना आचार ऐसा सुदृढ एवं अपवाद रहित रखना चाहिये कि जिससे उनके पीछे चलने वाला वर्ग भी सुदृढ और निरपवादि आचारों को पाल सके; इस तरह की वस्तुस्थिति होने पर भी हमारे सुनने में आता है कि ऋजु और प्राज्ञ साधुओं की अपेक्षा वक्र और जड़ साधुओंका आचार विशेष कठिन एवं दुस्सह किया गया है। ऋजु प्राज्ञ साधु पंच रंगी वस्त्र, रेशमी वा बहुमूल्यवान वस्त्र भी पहन सकते हैं और वक्र जड़ साधुओं को शक्यतानुसार अचेलक (वस्त्र रहित, एक वस्त्री या दो वस्त्री, वह वस्त्र भी पुराना, मैला, फटा टूटा और गृहस्थी द्वारा वर्ता हुवा, जैसा मिले वैसा ही सुधारे बिना कारण पड़ने पर ही उपयोगमें लेना चाहिये) ही रहना चाहिये। किसी एक साधु समुदायको उद्देश कर बनाया हुवा खानपान ऋजु प्राज्ञ साधु ग्रहण कर सकते

हैं और वही खान पान व्यक्तिकी दृष्टिसे भी वक्र जड़ साधुओं के लिये दूषित गिना जाय, ऋजु प्राज्ञ मुनि राज पिंड भी ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु वक्र जड़ोंसे वह सर्वथा नहीं लिया जा सकता। ऋजु प्राज्ञ प्रतिक्रमण की क्रिया अपनी इच्छानुसार कर सकते हैं, परन्तु वक्र जड़ोंको वह क्रिया निरन्तर और नियामित करनी चाहिये। ऋजु प्राज्ञ शय्यातर गृहस्थ के घरका आहार पानी वगैरह ग्रहण कर सकते हैं परन्तु वक्रजड़ मुनि नहीं ले सकते। विहार, जेष्ठ कनिष्ठकी व्यवस्था और वन्दनादि व्यवहार के लिये ऋजुप्राज्ञ निरंकुश रह और उन्हीं कार्योंके लिये वक्रजड़ों को गुरुकी परतंत्रतामें रहना पड़े, यह बात विचार करने लायक़ है। इनमें से निरंकुश आचार भगवान पार्श्वनाथके ऋजुप्राज्ञ साधुओं का है और सांकुश आचार भगवान वर्धमान के मुनियोंका है। यहाँ पर यह बात मैं पाठकों पर ही छोड़ता हूँ, वे स्वयं विचार करें कि उपरोक्त आचारों में किसमें विशेष त्याग मालूम होता है? किसके आचारमें विशेष कठिनता देख पड़ती है और कौनसा आचार विशेष मर्यादित

मालूम होता है? यदि त्यागका अर्थ अपनी आवश्यकतायें कम करने का हो, यदि त्यागका अर्थ निरंकुशताको रोकना होता हो, सहन करना हो और यदि त्यागका अर्थ मर्यादित-जीवन बिताना हो तो हर एक मनुष्य निःसंकोच यह स्वीकार किये बिना न रहेगा कि श्रीवर्धमान के ही आचारों में त्याग, साधुता, मर्यादितपन, सहनशीलता, सांकुशता और पूर्ण वैराग्य भरा है। तथा ऋजुप्राज्ञ पुरुषों के आचारों में अनुकूलता, आराम, यथेच्छवर्तिता और अमर्यादा झलक रही है। कदाचित् पार्श्वनाथ भगवान की विद्यमानता में उनके शिष्यों में इस प्रकारका सुखशील वर्तन न भी हो, परन्तु उनके निर्वाण बाद-श्रीपार्श्वनाथ और श्रीवर्धमान के शिष्योंके २५० वर्षके दरम्यान किसी भी समय पार्श्वनाथके सन्तानीयों पर उस समयके आचारहीन ब्राह्मण गुरुओंका असर पड़ा हो और इसी कारण उन्होंनें अपने आचारोंमें से कठिनता निकाल कर विशेष नरम और सुकर आचार बना दिये हों यह विशेष संभावित है।

मान लिया जाय कि हमारा कोई पड़ौसी

अच्छी तरह न्हाता धोता हो, इच्छानुसार वस्त्र पहनता हो और ऐसी रीति भाँति रखते हुये भी वह साधु या धर्मगुरुकी हैसियतसे प्रतिष्ठा या पूज्यता प्राप्त कर सकता हो तो मैं नहीं मानता कि उसका दूसरा त्यागी पड़ौसी उसके आचारणका अनुसरण करनेमें जरा भी विलम्ब करेगा। कठिन आचारों को पालन करने में, लज्जाको जीतनेमें, शरीर को वश रखने में और इसी तरहकी अन्य भी त्यागकी अनेक बातों में मनुष्य स्वभावसे ही शिथिल देख पड़ता है। इसी कारण वह अपनी अनुकूलता के अनुसार आचारों, नियमों एवं क्रियाओं को पालन करते हुये यदि धर्माचरण कर सकता हो तो वैसे सुकर नियमों की ओर वह झट झुक जाता है और जहाँ भूखा रहने को कहा जाता हो, वस्त्र रहित होकर आचार पाला जाता हो तथा जहाँ पर शरीरके प्रत्येक सुभीते का निरोध किया जाता हो उस तरफ कोई विरला ही मुश्किलसे झुकता है। अंगसूत्र ग्रन्थोंमें जहाँ तक मैं देख सका हूँ श्री वर्धमान जैसे समर्थ योगी पुरुषके समक्ष भी नग्न होनेमें श्री पार्श्वनाथ के सन्तानीय हिचकिचाये हैं। उन्होंने श्रीवर्धमान की

परीक्षा-मात्र कोरी वचनपरीक्षा लेनेके लिये कितने एक प्रश्न पूछे हैं और जब उनसे उनका समाधान हो गया एवं उसमें भगवान पार्श्वनाथ के सिद्धान्त की साक्षी मिली तब ही उन्होंने श्री वर्धमान को मस्तक झुकाया है। सूत्रोंमें जहाँ २ पर श्रीवर्धमान और उनके निर्ग्रन्थों के समागम होनेका वर्णन आता है वहाँ पर सब जगह निर्ग्रन्थोंने उन्हें प्रदक्षिणा देकर वन्दन करके अपने वक्तव्य या प्रष्टव्यका प्रारंभ किया है, इस तरहकी संकलना प्राप्त होती है, इतना ही नहीं बल्कि स्कंदक जैसे अन्यमतावलम्बी तापसने भी वर्धमान को मिलते समय जैन निर्ग्रन्थों के योग्य उनका सत्कार किया है, यह उल्लेख भी भगवती सूत्र के दूसरे शतकमें विद्यमान है। परन्तु जहाँपर पार्श्वनाथ के सन्तानीय मुनियोंका वर्णन आता है वहाँ सर्वत्र उन्होंने वर्धमान वा उनके स्थविरोंको मिलते ही तुरन्त साधारण सत्कार करने तकका भी विवेक प्रगट किया हो ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु उन्होंने वर्धमान या उनके मुनियोंके पास जाकर उनके साथ बात-चीत करके, उन्हें पहचानने के बाद वन्दनादि

करने और उनका धर्म स्वीकृत करनेका उल्लेख मिलता है। सूत्रोंमें ऐसे अनेक उल्लेख विद्यमान हैं। उनमेंके एक दो उल्लेखकी ओर मैं पाठकोंका ध्यान खींचता हूँ—भगवती सूत्रके नवमें शतकके बत्तीसवें उद्देशकमें एक गांगेय नामक पार्श्वनाथ सन्तानीय की कथा आती है, उसमें इस प्रकार बतलाया है कि १ "एक

---

१ "तेणं कालेणं, तेणं समएणं वाणियगामे णामं णयरे होत्था, वएणाओ, दुइपलासे चेइए, सामी समोसढे, परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ, परिसा पडिगया, तेणं कालेणं, तेणं समएणं पासावच्चिज्जा गांगेये णामं अणगारे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वयासीः"

"तप्पभिइं च णं से (पासावच्चिजे) गंगेये अणगारे समणं भगवं महावीरं पच्चभिजाणइ—सव्वएणू सव्वदरिसी। तएणं से गंगेये अणगारे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता, णमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते! तुब्भे अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं, एवं जहा कालासवेसियपुत्ते अणगारे तहेव भाणियव्वं जाव०

समय वर्धमान वाणिज्य ग्रामके दूतिपलाश नामक चैत्यमें पधारे थे, वहाँ पर उनका उपदेश सुनने के लिये वहाँका समाज एकत्रित हुवा था और उस सदुपदेश को सुन कर वह लोक समूह वापिस अपने २ स्थान पर चला गया था। उस ग्राममें वर्धमानको गांगेय नामक पार्श्वापत्य अणगार मिले थे, वे वर्धमानके पास गये थे और उनके नजदीक बैठ कर उन्होंने वर्धमानको कितनेक प्रश्न पूछे थे। अपने पूछे हुये प्रश्नोंके उत्तर मिले तब से ही उस पार्श्वापत्य गांगेय अणगार ने वर्धमानको सर्वज्ञ और सर्वदर्शीके तौरपर पहचाने थे। फिर उन्हें वन्दनादि करके उसने अपना चातुर्याम धर्म छोड़ कर वक्र जड़ोंका पंचयाम मार्ग स्वीकृत कर अपना श्रेय सिद्ध किया था।"

इसी ऋजु प्राज्ञ गांगेयने वर्धमानकी परीक्षा ली थी और इस निमित्त उसने उन्हें अनेक परोक्ष प्रश्न भी पूछे थे। इसी प्रकार

सव्वदुक्खप्पहीणे।"

—(भगवती० अजीम० पृ० ७३८–७३९–७८७)

दूसरे ❀ कालास्यवेशिक पार्श्वापत्य ने वर्धमान के स्थविरोंके साथ समागम होते समय किसी भी प्रकारका साधारण विनय सत्कार तक नहीं किया, परन्तु उस समागम के परिणाम में उसे वक्रजड़ों के समुदाय में मिलना पड़ा था। यह कैसी ऋजु प्राज्ञता और वक्रजड़ता है? इन दोनों पार्श्वापत्योंके साथ सम्बन्ध रखने वाला जो उल्लेख मिलता है उसमें से उपयुक्त भाग मैं नीचे नोटमें दिये देता हूँ, इस विषयको सविस्तर जाननेकी इच्छा रखने वाले पाठकोंको वे दोनों प्रकरण देख लेने चाहियें। ऋजु और प्राज्ञ पुरुषोंका एक ऐसा स्वाभाविक नियम है कि वे कहीं भी आग्रही नहीं होते, गुणके प्रेमी होते हैं। बल्कि 'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः, ऐसी सदुक्तियों को वे ही चरितार्थ करते हैं।

❀"तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जे कालासवेसियपुत्ते णामं अणगारे जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छइ, उवागइच्छत्ता थेरे भगवंते एवं वयासीः–

(भग० वा० पृ० १३१)

वे ऐसे नम्र होते हैं कि सर्वथा अनजान किन्तु गुणी वा तपस्वी मनुष्यको मिलते ही उचित सन्मान करना नहीं चूकते। अब हमें यह समीक्षण करना चाहिये कि उन ऋजु प्राज्ञोंकी यह स्थिति कहाँ ? और हमारे ऋजु प्राज्ञोंकी वर्धमान जैसे दीर्घ तपस्वीकी परीक्षा लेनेवाली वह भी अनम्रवृत्ति कहाँ ? इस हेतुसे एवं ऐसे ही अन्य भी अनेक प्रमाणोंसे मैं यह निर्णय कर सकता हूँ कि वर्धमानके समय पार्श्वनाथ जीकी प्रजा सुखशील हो गई थी और वह भी यहाँ तक कि वर्धमान जैसे महापुरुष को पहचान सकने जितनी भी स्थिति न रही थी। भगवती सूत्रमें उसको संकलित करने वालेने एक जगह पार्श्वापत्यीय कालास्यवेशी अणगार के मुखसे वर्धमान के निर्ग्रन्थोंकी सामायिकके सम्बन्धमें चर्चा कराई है। उस चर्चाके अन्त में वह पार्श्वापत्यीय साधु इस बातको स्वीकार करता है कि-"हे निर्ग्रन्थो ! जैसा तुमने सामायिक का स्वरूप बतलाया है ऐसा मैंने नहीं सुना, एवं वैसा मुझसे किसीने नहीं कहा" इत्यादि यह विषय भगवती सूत्रमें इस प्रकार लिखा है—

❀ इस समय पार्श्वापत्य कालस्यवेशिक पुत्र अणगार बुद्ध हुवा–बोधको प्राप्त हुवा, अर्थात्

❀ "एत्थणं से (पासावच्चिज्जे) कालासवेसियपुत्ते अणगारे संबुद्धे थेरे भगवंते वंदइ, णमंसइ; वंदित्ता, णमंसित्ता एवं वयासी–एएसि णं भंते ! पयाणं पुव्विं अण्णाणयाए, असवणयाए, अबोहियाए, अणभिगमेणं, अदिट्ठाणं, अस्सुयाणं, असुयाणं, अविण्णा याणं अव्वो-गडाणं, अव्वोच्छिण्णाणं, अणिज्जूढाणं, अणुवधारि-याणं, एयमट्ठं णो सद्दहिए, णो पत्तिइए, णो रोइए; इयाणिं भंते ! एएसि णं पयाणं जाणणाए, सवणयाए, बोहियाए, अभिगमेणं, दिट्ठाणं सुयाणं, विण्णा याणं, वोगडाणं, वोच्छिण्णाणं, णिज्जूढाणं उवधारियाणं एयमट्ठं सद्दहामि, पत्तियामि, रोएमि, एवमेयं से जहेयं तुब्भे वयह । तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी–सद्दहाहि अज्जो !, पत्तियाहि अज्जो !, रोएहि अज्जो ! से जहेयं अम्हे वयामो । तए णं कालासवेसियपुत्ते अणगारे, थेरे भगवंते वंदइ, नमंसइ वंदित्ता, णमंसित्ता एवं वयासी–इच्छामि णं भंते ! तुब्भे अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह" इत्यादि

(भगवतीसूत्र, अजीम, पृ० १३४–१३५)

सामायिकादि के स्वरूप का जानकार हुआ और उसने वर्धमान के वक्रजड़ स्थविरोंको वन्दन, नमन करके इस प्रकार कहा—कि हे भगवन्तो! तुमने जो पद कहे हैं इन्हें पूर्वमें न जाननेसे, पहले न सुननेसे, इसके साथ सम्बन्ध रखनेवाला बोधि लाभ न प्राप्त होनेसे या मुझमें स्वयं विचार करनेकी बुद्धि न होनेसे, इस विषय का व्योरेवार बोध न रहनेसे, उन पदोंको मैंने स्वयं नहीं देखा था और, न सुना था इससे वे पद मेरी स्मृतिमें न आनेके कारण उन्हें विशिष्टतया न जान सकने से, गुरुने उन्हें विशेषता पूर्वक न कथन करनेसे, वे पद विपक्षसे अपृथग् भूत होनेसे, गुरुने उन्हें बड़े ग्रन्थोंसे संक्षेपमें उध्धृत न किया होनेसे और इसी हेतु वे पद अनवधारित रहनेसे आपसे कथन किये गये इस अर्थ को मैंने न सद्दहा था। उस अर्थ पर मुझे विश्वास या रुचि भी न थी। परन्तु हे भगवन्तो! अब मैंने आपसे इन पदोंको जाना है, सुना है और यावत् अवधारित किया है, इससे मुझे आपके कथन किये अर्थमें श्रद्धा, विश्वास और रुचि हुई है एवं आप जो कहते हैं वह उसी प्रकार है।

इस प्रकार एक ऋजु प्राज्ञ संप्रदाय के मुनिकी वाणी सुनकर वर्धमानके वक्रजड़ स्थविरोंने उसे कहा कि हे आर्य ! हम जो कहते हैं उसमें श्रद्धा करो, विश्वास करो और रुचि रक्खो। इसके बाद उस ऋजुप्राज्ञ कालास्यवेशिक मुनिने स्थविरोंसे कहा कि हे भगवन्तो ! मेरी ऐसी वृत्ति है कि अपना चातुर्याम धर्म छोड़कर आपके प्रतिक्रमण सहित पंचयाम धर्मका अंगीकार करके विचरूँ । इसके उत्तरमें स्थविरोंने विशेष कोमलता पूर्वक कहा कि हे देवप्रिय ! जैसे सुख पैदा हो वैसे करो और वैसा करनेमें विलम्ब न करो । (भगवती सूत्र अजीम पृ० १३४-१३५) ।

इस उल्लेखमें वर्धमानके वक्रजड़ शिष्योंसे ऋजुप्राज्ञ पार्श्वापत्यने सर्वथा न जाना हुवा जाना, न सुना हुवा सुना और वैसा करके उसने अपना पूर्वापर से चला आता चातुर्याम मार्ग छोड़ और वक्रजड़ोंका सप्रतिक्रमण पंचयाम मार्ग स्वीकार कर अपना कल्याण सिद्ध किया। यह बात भी मेरी पूर्वोक्त कल्पना को पुष्ट करती मालूम देती है। इसके उपरान्त

मार्ग बदलने के सम्बन्धमें वर्तमान अंगग्रन्थों में पार्श्वापत्योंसे लगते हुये अन्य भी ऐसे अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं, जो मेरी मान्यताका समर्थन करते हैं। इस विषयमें मैं पार्श्वनाथ और वर्धमान, नामक एक सविस्तर निबन्ध लिखना चाहता हूँ। अतएव यहाँपर इस विषयका विस्तार करके प्रस्तुत निबन्धका कलेवर बढ़ाना व्यर्थ है। अस्तु ऊपर बतलाई हुई मेरी तमाम दलीलें इस बातको स्पष्टतया सूचित करती हैं कि वर्धमानके समयमें पार्श्वनाथ की बाड़ी कुमला गई थी, वह उत्तम त्यागके जलसे सिंचित न होती थी, किन्तु उसे सुखशीलताका किंपाकके रस जैसा आपातमधुर पानी मिलता रहता था। पाठकोंको स्मरण रखना चाहिये कि मैं श्वेताम्बरता और दिगम्बरताके मूलकी शोध कर रहा हूँ। मुझे अपने यथामतिजन्य मननके बाद पार्श्वापत्योंकी सुखशीलता में ही उसका मूल समाया हुवा मालूम देता है। वर्धमानके आसपास के पार्श्वनाथके सन्तानीयों की सुखशीलता में मुझे कुछ भी मीनमेख मालूम नहीं देती, एवं उनकी ऋजुता और सरलता-प्राज्ञतामें भी मेरा कोई मतभेद नहीं है। इसमें

मेरा मतभेद सिर्फ इतना ही है कि वे कोई अपने सुखशील आचारोंके कारण ऋजुप्राज्ञ न थे, परन्तु जब उन्हें वर्धमानकी ओरसे या उनके निर्ग्रन्थोंकी तरफसे कुछ समझाया जाता तब वे उस विषयको शीघ्र समझ लेते थे और शीघ्र अंगीकार करके अपने आचरणमें घटित परिवर्तन भी कर लेते थे। प्रारंभमें भले ही अपनी स्वीकृत सुखशीलताकी चुस्तताके कारण या अन्य किसी कारण उन्होंने वर्धमान या उनके स्थविरोंके साथ भिन्नधर्मीके समान वर्ताव किया हो, परन्तु जब वे परस्पर विशेष समागम में आये तब समागममें आनेवाले प्रत्येक पार्श्वनाथसन्तानीयने वर्धमानका कठिन मार्ग अंगीकार किया है। यह बात सूत्रोंमें उल्लिखित पार्श्वापत्योंके प्रत्येक उल्लेखके अन्तमें बड़े सरल और निखालस शब्दोंमें आज भी स्पष्टरूपसे झलक रही है, ये शब्द ही पार्श्वापत्योंकी ऋजुता और प्राज्ञताकी साधनाके लिये पर्याप्त हैं। परन्तु उनके दोनों गुणोंका सुखशील आचारोंके साथ कुछ भी सम्बन्ध हो यह बात मुझे भासित नहीं होती। पार्श्वनाथके बाद दीर्घतपस्वी वर्धमान हुये, उन्होंने अपना आच-

रण इतना कठिन और दुस्सह रक्खा कि जहाँतक मेरा खयाल है इस तरहका कठिन आचरण अन्य किसी भी धर्माचार्यने आचरित किया हो ऐसा उल्लेख आज तकके इतिहास में नहीं मिलता।

जिस प्रकार परदेशियोंकी, परदेशी पदार्थों की और परदेशी रीतिरिवाजों की गुलामीमें जकड़ी हुई वर्तमान भारतीय प्रजाको जहाँतक बन सके सादगीकी आवश्यकता है, बन सके उतना स्वदेशीमय बननेकी जरूरत है और शक्य प्रमाणमें अपनी आवश्यकताओं को कम करके सुखशीलताको छोड़ आदर्श पुरुष परम त्यागमूर्ति महात्मा गांधीके मार्गपर चलनेकी जरूरत है, इसी प्रकार आजसे लगभग ढाई हजार वर्ष पहले धर्मगुरुओंमें घुसे हुये विलासके पिशाचको निकालने के लिये, आरामकी गुलामी को दूर करनेके लिये और धर्मगुरुओं की ओरसे प्रजापर पड़े हुये भारको हलका करनेकी खातिर आदर्शमें आदर्श त्याग, आत्मभाव और परम सत्यके संदेशकी आवश्यकता थी। इसी कारण वर्धमानने अपनी भरजवानी में ही संयमी होकर

अपने आचरणको इतना कठिन कसा था कि जिस कठिनताकी कल्पनाको भी आधुनिक मनुष्य नहीं पहुँच सकता। इसी कठिनाई के प्रभावसे उस समयके धर्मगुरुओंमें पुनः त्यागका संचार हुवा और इससे वे निर्ग्रन्थके नामको शोभायमान करने लगे। उस वक्त जो नये निर्ग्रन्थ बनते थे वे शक्यतानुसार वर्धमानका ही अनुसरण करते थे। इस प्रकार एक दफा पुनरपि भारतमें त्यागका धर्म पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था।

ज्यों गाड़ीका पहिया फिरा करता है, प्रकाशके बाद अन्धकार आया करता है, आतापके बाद छाया आती है त्यों भारतवर्ष में उस समयकी झलकती हुई त्यागकी ज्योति अमावस्याकी कालरात्रिके तिमिरमें विलीन हो गई थी, बुझ गई थी और पीछे फिर भी भावी तिमिर संचरणकी संध्याने अपना रंग प्रकाशित किया था। 'हतं सैन्यमनायकं' यह उक्ति भारतीय प्रजाको सदासे लागू पड़ती आ रही है। सेना पूर्णजोसमें लड़ रही हो और विजय प्राप्तिमें मात्र दस पांच ही

मिनिट बाकी हों, ऐसे समय यदि सेनापति के गिर जानेकी खबर सुननेमें आवे तो भारत की सेना तितर बितर हो कर कौवोंके समान चारों दिशाओंमें भाग जाती है और अपने क्षत्रीपन को लांछित करती है। यथार्थ यही रीति भारतके धर्मक्षेत्रमें या अन्य समस्त व्यवहारोंमें अभीतक समान रूपसे लागू पड़ी है। वर्धमान का निर्वाण होनेसे परम त्यागमार्ग के चक्रवर्तीका तिरोधान हो गया और ऐसा होनेसे उनके त्यागी निर्ग्रन्थ निर्नायकसे हो गये। तथापि मैं मानता हूँ कि श्रीवर्धमान के प्रतापसे उनके बादकी दो पीढियों तक श्री वर्धमान का वह कठिन त्यागमार्ग ठीक रूपसे चलता रहा था। यद्यपि जिन सुखशीलियों ने उस त्यागमार्ग को स्वीकारा था उनके लिये कुछ छूट रक्खी गई थी और उन्हें ऋजु प्राज्ञ के संबोधनसे प्रसन्न रक्खा गया था, तथापि मेरी धारणा मुजब वे उस कठिनताको सहन करनेमें असमर्थ निकले थे, और श्रीवर्धमान सुधर्मा तथा जंबू जैसे समर्थ त्यागीकी छायामें वे ऐसे दब गये थे कि किसी भी प्रकारकी चीं-पटाक किये बिना यथा तथा थोड़ीसी छूट

लेकर भी वर्धमान के मार्गका अनुसरण करते थे। परन्तु इस समय वर्धमान, सुधर्मा या जंबू कोई भी प्रतापी पुरुष विद्यमान न होनेसे उन्होंने शीघ्र ही यह कह डाला कि जिनेश्वर का आचार जिनेश्वरके निर्वाणके साथ ही निर्वाण को प्राप्त हो गया है। जिनके जैसा संयम पालन करनेके लिये आवश्यक शारीरिक वल या मनोवल आजकल नहीं रहा, एवं उच्च कोटिका आत्म विकाश और पराकाष्ठा का त्यागमार्ग भी आज लोप हो गया है। अतः अब तो वर्धमान के समयमें जो छूट ली जाती थी उनमें भी संयमके सुभीतेके लिये (?) वृद्धि करनेकी आवश्यकता मालूम देती है। मेरी मान्यतानुसार इस संक्रान्ति कालमें ही श्वेताम्बरता और दिगम्बरता का बीजारोपण हुवा है और जंबू स्वामीके निर्वाण बाद इसका खूब पोषण होता रहा हो यह विशेष संभवित है। यह हकीकत मेरी निरी कल्पना मात्र नहीं है, किन्तु वर्तमान ग्रन्थ भी इसे प्रमाणित करनेके सबल प्रमाण दे रहे हैं। विद्यमान सूत्र ग्रन्थों एवं कितनेक अन्य ग्रन्थोंमें प्रसंगोपात यही बतलाया गया है कि—

* "मण-परमोहि-पुलाए आहारग-खवग उवसमे कप्पे। संजमतिय केवलि-सिज्झणा य जंबुम्मि वुच्छिण्णा" ॥२५९३ ॥

अर्थात् जंबूस्वामीके निर्वाण बाद निम्न लिखित दस बातें विच्छेद हो गई हैं। १ मन-पर्यवज्ञान, २ परमावधि ज्ञान, ३ पुलाकलब्धि,

---

* विशेषावश्यक भाष्य (य०ग्र०पृ० १०३५) विशेषावश्यक के इस उल्लेखको भाष्यकार श्री जिनभद्रसूरिने जिनवचन याने तीर्थंकरका वचन बतलाया है और टीकाकार श्री मलधारी हेमचंद्रजी ने भी मक्खी पर मक्खी मारनेके समान उसी बातको दृढ़ की है। बलिहारी है श्रद्धान्धताकी ! गाथामें लिखा है कि जंबूके समय ये दस बातें विच्छेद होगई, इस प्रकारका, उल्लेख तो वही कर सकता है कि जो जंबूस्वामीके बाद हुवा हो। यह बात मैं विचारक पाठकों से पूछता हूं, कि जंबूस्वामीके बाद कौनसा २५ वाँ तीर्थंकर हुवा है कि जिसका वचनरूप यह उल्लेख माना जाय? यह एक ही नहीं किन्तु ऐसे संख्यावध्य उल्लेख हमारे कुल गुरुओंने पवित्र तीर्थंकरोंके नामपर चढ़ा दिये हैं। जिससे हम विवेक पूर्वक कुछ भी नहीं विचार सकते। क्या यह कुछ कम तमस्तरण है ?

४ आहारक शरीर, ५ क्षपकश्रेणी, ६ उपशम श्रेणी, ७ जिनकल्प, ८ संयमत्रिक (यथाख्यात संयम, परिहार-विशुद्धिक संयम और सूक्ष्म संपराय संयम) "केवलज्ञान और १० वाँ सिद्धि गमन" । इससे यह बात स्पष्ट मालूम होजाती है कि जंबूस्वामीके बाद जिनकल्पका लोप हुवा बतला कर अबसे जिनकल्पकी आचरणा को बन्द करना और उस प्रकार आचरण करने वालोंका उत्साह या वैराग्य भंग करना, इसके सिवा इस उल्लेखमें अन्य कोई उद्देश मुझे मालूम नहीं देता। मैं सिर्फ जिनकल्प लोप होनेका ग्रन्थपाठ बतला सकता हूँ, परन्तु वह पाठ कबका है ? और किसका रचा हुआ है ? इस विषयमें कुछ नहीं कह सकता। तथापि इस पाठको देवर्धिगणीके समय तकका मानने में कोई संदेह मालूम नहीं देता, अर्थात् इस पाठका आशय परम्परासे चला आता हो और इसीसे सूत्र ग्रन्थोंमें भी इसे श्रीदेवर्धिगणी जी ने समाविष्ट कर दिया हो तो यह संभवित है। जंबूस्वामीके निर्वाण बाद जो जिनकल्प विच्छेद होनेका वज्रलेप किया गया है और उसकी आचरणा करने वालेको जिनाज्ञा बाहर सम-

झनेकी जो स्वार्थी एवं एक तरफी दंभी धमकी का ढिंढोरा पीटा गया है, बस इसीमें श्वेताम्बरता और दिगम्बरता के विषवृक्षकी जड़ समाई हुई है। तथा इसके बीजारोपणका समय भी वही है जो जंबूस्वामीके निर्वाणका समय है। इस गवेषणा के उपरान्त भी उसी समयमें इसके प्रारंभके और भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। जिनमेंसे एक बौद्धग्रन्थों और दूसरा दिगम्बरों की पट्टावली में मैंने स्वयं अवलोकित किया है। बुद्ध धर्मानुसारी सूत्रपिटक, १ 'मज्झिमनिकाय' नामक ग्रन्थोंमें एक इस विषयका उल्लेख मिलता है कि "ज्ञातपुत्र

१—"एवं मे सुतं—एकं समयं भगवा सकेसु विहरति सामगामे तेन खो पन समयेन निगंठो नातपुत्तो +++ होति,तस्स भिन्ना निगंठा द्वेधिकजाता, भण्डनजाता, कलहजाता, विवादापन्ना अञ्ञमञ्ञं मुखसत्तीहि वितुदंता विहरंति" अर्थात् मैंने ऐसा सुना है कि एक समय भगवान बुद्ध शाक्य देशमें श्याम ग्राममें विचरते थे, उस समय ज्ञातपुत्र भी थे। ज्ञातपुत्रके निर्ग्रन्थोंमें कलह हुवा था। वे जुदे होकर परस्पर बकवाद करते विचरते थे, (मज्झिमनिकाय पृ० २४३-२४५)

(वर्धमान) के निर्ग्रन्थोंमें मतभेद हुआ था।"
उपरोक्त जिनकल्प विच्छिन्न होनेका जो उल्लेख किया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि जम्बूस्वामी के पीछे अर्थात् वर्धमान के निर्वाण बाद ६४ वें वर्षमें उनके मुनियोंमें दो दल हो गये थे। जिनमेंसे एक नरम दल यह कहता था कि अब जिनकल्प विच्छेद हो गया है। इस लिये हम उसका आचरण कर ही नहीं सकते। दूसरा गरम दल जिनकल्प का पक्ष-पाती था और जिनकल्प के आचरण का हिमा-यती था। इन दोनों दलोंके मतभेदका ही उल्लेख बौद्ध ग्रन्थोंमें हुआ हो, ऐसा इस गाथा के-"जंबुम्मि वुच्छिन्ना" पदपर से हम सरलता पूर्वक अनुमान कर सकते हैं। इस विषयको दिगम्बरों की पट्टावली भी पुष्ट करती है। श्वे-ताम्बरों और दिगम्बरों की पट्टावलीमें श्री व-र्धमान, सुधर्मा तथा जम्बूस्वामी तकके नाम समान रीतिसे और एक ही क्रमसे उल्लि-खित पाये जाते हैं, परन्तु उसके बादके आने वाले नामोंमें सर्वथा भिन्नता प्रतीत होती है और वह भी इतना विशेष भिन्नत्व है कि-जम्बूस्वामी के बाद उनमें से एक भी नाम पूरे

तौरपर नहीं मिलता। इस प्रकार जम्बूस्वामी के बाद ही ये पट्टावलियाँ जुदी २ गिनी जाने लगीं। यदि इसका कोई कारण हो तो वह एक मात्र यही है कि जिस समयसे सर्वथा जुदे२ पट्टधरोंके नामोंकी योजना प्रारंभ हुई—उस समय जम्बूस्वामी के निर्वाण बाद—वर्धमान के साधुओंमें भेद पड़ चुका था। वह पड़ा हुआ भेद धीरे २ द्वेष व विरोधके रूपमें परिणत होता रहा। उस समय जो स्वयं मुमुक्षु पुरुष थे वे तो यथाशक्य उच्च त्यागाचरण सेवन करते थे, और जो पहले से ही सुखशीलता के गुलाम बन चुके थे, वे कुछ मर्यादित छूट रख कर पराकाष्ठा के त्याग की भावना रखते थे। अर्थात् जम्बूस्वामी के बाद भी उन मुमुक्षुओंमेंसे कई एक तो भगवान महावीर के कठिन त्याग मार्ग का ही अनुसरण करते थे और कईएक जिन्होंने परिमित छूट ली थी, वे कदाचित् अथवा निरन्तर एकाध कटिवस्त्र रखते होंगे, पात्र भी रखते होंगे, तथा निरन्तर निर्जन वनोंमें न रह कर—कभी २ वसतियोंमें भी रहते होंगे। मुझे उस समयका कुछ प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, तथापि श्री हरिभद्रसूरि की आगे बतलाई हुई

गाथापरसे और अपनी बुद्धिसे इतनी तो कल्पना कर सकता हूँ कि मुमुक्षु पुरुष संयम निर्वाह के लिये–इससे अधिक छूट ले, यह मैं मान नहीं सकता। उन मुमुक्षुओंमें जो मध्यम वर्ग था याने जो पूर्ण मुमुक्षु न था परन्तु आज कलके मुनियोंके समान मताग्रही था वह किसी तरह अपनी विद्यमानता को यावत् चन्द्र दिवाकर स्थापित करना चाहता था, अर्थात् उनमेंसे एक पक्ष वस्त्रपात्रवाद में ही मुक्तिकी प्राप्ति देखता था और दूसरा पक्ष मात्र नग्नता में ही मोक्ष मानता था। त्यागको आचारमें रखनेकी बात दूर रही परन्तु अपनी २ मान्यताओंको श्री महावीर के नामपर चढ़ानेकी धुनमें वे एक ऐसे समयकी राह देखते थे कि जिसमें प्रगट रूपमें विरोध किये बिना ही सदा के लिये सर्वथा जुदे हो जायँ।

वीरनिर्वाणके बादका यह समय देशकी प्रजाके लिये बड़ा ही भीषण था। मगध देशमें जहाँ वर्धमान का साम्राज्य था दुर्भिक्षके बादल छागये। वीर निर्वाणको अभी पूरे दो सौ वर्षभी न बीतने पाये थे कि देशमें भयंकर दुर्भिक्ष

शुरू हो गया। बड़ी कठिनाइयों का सामना करके देश यथा तथा उस दुर्भिक्ष को पार कर कुछ ठीक स्थितिमें आ रहा था कि इतने ही में वीर निर्वाण की पाँच वीं-छठी शताब्दी में पुनः बारह वर्षीय अकाल राक्षसने मगधको अपने विकराल गालमें दबा लिया। यह बड़ा भयंकर अकाल था, इसमें त्यागियों का तप भी डोलायमान हो गया था, आचारोंमें महान् परिवर्तन हो गया था और अन्नके अभावसे दिन प्रतिदिन स्मरण शक्ति नष्ट होने लगी थी। इससे परम्परागत जो कंठस्थ विद्या चली आ रही थी वह विस्मृत होने लगी थी इतना ही नहीं किन्तु उसका विशेष हिस्सा विस्मृत हो भी चुका था। शेष बचे हुये श्रुतको किसी तरह कायम रखनेकी भावनासे दुर्भिक्षके अन्तमें मथुरामें आर्य श्रीस्कंदिलाचार्यने विद्यमान समस्त श्रुतधरोंको एकत्रित किया। उनमें जो मताग्रही, सुखशील और नरम दलके मुनि थे वे भी आये। जिसे जो याद रहा था सो सब लिखाने लगे। परन्तु इसीमें मतभेद पड़ा और वह यह कि मुनियोंके आचारके लिये क्या लिखना चाहिये ? क्या नग्नताका ही विधान किया जाय

या वस्त्रपात्रता का ? एक पक्ष कहता था कि नग्नताका ही विधान होना चाहिये, दूसरा पक्ष वस्त्रपात्रताके विधानकी बात पर जोर दे रहा था। इस प्रकारकी पारस्परिक तकरार होने पर भी दीर्घदर्शी स्कंदिलाचार्यने और उनके बादके उद्धारक देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमणजीने सूत्रोंमें कहीं पर भी केवल नग्नता या मात्र वस्त्र पात्रताका ही उल्लेख नहीं किया, परन्तु दोनों बातोंका संघटित न्याय किया है। माथुरी वाचनाके मूलनायक पुरुष और वलभी वाचना के नायक पुरुष, इन दोनों महात्माओंका मैं हृदय पूर्वक कोटिशः अभिनन्दन करता हूँ कि उन्होंने उस २ समयके किसी तरहके वातावरणमें न आकर आचार प्रधान आचारांग सूत्र में मुनियोंके आचारोंकी सँकलना करते हुये मात्र साधारणतया ही भिक्षु और भिक्षुणीके आचार बतलाये हैं। उसमें कहींपर भी जिन-कल्प या स्थविर कल्प एवं श्वेताम्बर या दिग-म्बरका नाम तक भी नहीं आने दिया। धन्य है उन महापुरुषोंकी अनाग्रहीता को, धन्य है उनकी मुमुक्षुता को और धन्य है उन निस्पक्ष पुरुष रत्नोंकी जननी को। जो विचारक

पुरुष आचारांग सूत्रमें दिये हुये भिक्षु तथा भिक्षुणियों के आचारको विना कदाग्रहके सिर्फ एक ही दफा पढ़ लेगा उसके मनमें मेरे उपरोक्त किये निर्णयके सम्बन्धमें जरा भी शंका न रहेगी। मेरी यह प्रामाणिक कल्पना है कि माथुरी वाचनाके समय ही मुनियोंमें स्पष्टरूप से दो दल होगये थे। श्वेताम्बरोंमें जो दिग-म्बरोंके विषयमें यह दन्तकथा है कि वीरात् ६०६ में दिगम्बरों की उत्पत्ति है, इस दन्तकथा में बतलाया हुआ समय और माथुरी वाचनाका समय लगभग समीपका होनेके कारण पूर्वोक्त मेरी मान्यताको पुष्टी मिलती है। बस अब तो एक ही मूँगके दो टुकड़े होगये, तिल तेरे और उड़द मेरे वाली बात होगई। एक ही पिताके दो पुत्रोंने हिस्सा बाँट कर पिता के घरमें एक मजबूत दीवार चिननी शुरु कर दी। दोनों पुत्रोंको श्रीवर्धमान महावीर पर ममत्व होनेके कारण इन दोनोंने अपने २ सिद्धान्त को श्रीमहावीर के नामपर चढ़ा कर आग्रहके आवेश से अनेकान्त मार्ग और अपेक्षावाद के श्रीमहावीर के मूल नियमको तोड़ कर परस्पर शाब्दिक महाभारत शुरु किया। एकने दूसरेको

बोटिक और निह्नव कहना प्रारंभ किया, तब दूसरेने उसका जवाब भ्रष्ट और शिथिल शब्दों में दिया। दोनों पक्षोंने शीघ्रता से अपने २ पक्ष को प्रबल करनेके लिये अपनी अनुचित और एकान्तिक कल्पना को भी श्रीमहावीर के नाम पर चढ़ा कर उस प्रकार के शास्त्र (शस्त्र ?) भी घड़ डाले और उसमें भी उनकी जो दशा हुई थी वह मैं अपने शब्दोंमें न बतला कर आर्य श्री सिद्धसेन के ही शब्दोंमें बतलाता हूँ—

"ग्रामान्तरोपगतयोरेकामिष संग जात मत्सरयोः। स्यात् सौख्यमपि शुनोर्भ्रात्रोरपि वादिनोर्न स्यात्॥" वाद द्वात्रिंशिका—१

वे दोनों भाई अपनी २ मान्यताओं के आवेशकीधुन में इस बातको भी भूल गए कि मुक्तता का विशेष सम्बन्ध आत्मा और उसकी वृत्तियोंके साथ है या कि वस्त्र-पात्र और नग्नताके साथ ? दोनों पक्षोंने भविष्य की प्रजाको अपने २ पक्षमें ही मुक्तिके पट्टे का दस्तावेज मिलनेकी अयोग्य और बालिश बात भी करते हुए आगा पीछा न देखा। जिस के परिणाम स्वरूप वर्तमान प्रजा पारस्परिक

विरोधसे मुक्तिके विपरीत मार्गपर जा रही है। पानीमें तैरना सीखनेवाला एक बालक भी यह समझ सकता है कि तैरनेकी कलाका अभ्यास करने तक तुंबा रखना पड़ता है। परन्तु वह अभ्यास पूरा हुये बाद-एवं तैरनेमें पूर्ण दक्षता मिलनेपर वह तुंबा भाररूप मालूम होता है। परन्तु जो अभ्यासी उस कला में अधकच्चरा और संशयशील है, उसे अपना पूर्णविश्वास हुए बिना वह तुंबा अपनी सुरक्षितता के लिए रखना पड़ता है। इस तरहके सरल और बाल सुबोध विषयमें कोई यह कहे कि प्रत्येक तैरने वालेको निरन्तर तुंबा रखना ही चाहिए, उसके सिवाय उसका छुटकारा ही नहीं और दूसरा यों कहे कि हरएक तैरने वालेको अपने आत्मबल पर विश्वास रख कर ही तालाबमें कूद पड़ना चाहिये और तुंबेका जरा भी स्पर्श न करना चाहिए। ये दोनों बातें जैसी हास्यपात्र हैं उसी प्रकार श्वेताम्बरता और दिगम्बरताका आग्रह भी मुमुक्षुओंके लिए वैसा ही हास्यपात्र है। मैं मानता हूँ कि यदि उन्होंने किसी तरहका आग्रह न रख कर मात्र सूत्रग्रन्थोंके अनुसार ही अपना पक्ष कायम किया

होता और यह लिखा होता कि भिक्षुओंको चाहिये यथाशक्य अपनी आवश्यकताओंको कम रक्खें और विवश होकर मात्र संयम निर्वाह के लिए यदि कोई छूट रखनी पड़े तो वह बहुत ही कम प्रमाणमें रक्खें, इतने ही अक्षरोंमें उन दोनों पक्षोंका आशय आ सकता है। सारा समाधान हो सकता था और दोनोंमेंसे एक पक्ष ज़रा भी खण्डित नहीं होता था। परन्तु जो आग्रह के घोड़ेपर चढ़े हों, उनके मनमें ऐसी मध्यस्थता या सरलता कहाँसे आवे ? जहाँ मताग्रह के नकारे बजते हों, वहाँ निस्पक्षता की तूती कौन सुनता है ? उन्होंने पक्ष भी अकाट्य बांधे और प्रजाके आध्यात्मिक बलका नाश होनेकी तरफ जरा भी ध्यान न दिया। मानसिक बलका सत्यानाश होने पर भी उन्होंने 'देहं पातये' और कार्यं साधये, की रीतिसे अपना विशिष्ट बल इसी मार्गमें खर्चना शुरू किया और जो बात महावीरने न कही थी, एवं जो महावीर के प्रवचनमें उसे संकलित करने वालोंने भी न चढ़ाई थी, उसी बातको महावीरके नाम पर चढ़ाकर वैसे अनेक ग्रन्थ लिखने शुरू किये और साहित्य रूपी अपूर्णनिरोगी शिशुको

महावीर के नामपर चढ़ाते हुए सम्मिश्रणों की शटास पिला २ कर इतना अधिक सुजा दिया कि वर्तमान कालमें यह समझना भी बड़ा कठिन होगया है कि यह उसकी विकार जन्य सोजिश स्थिति है या वास्तविक रक्त। एक तरफ आचार्य श्री जिनभद्रजी ने इस तरहका प्रघोष किया कि जिनकल्प विच्छेद हो गया है, ऐसा श्री जिनेश्वर भगवान ने कहा है। इस तरह असत्य रीत्या जिनेश्वर भगवानके नामपर चढ़े हुए प्रवादका अनुसरण करके और प्रचलित संप्रदायको सन्मान देकर आचारांग सूत्रके टीकाकार श्री शीलांकसूरिजी ने उस आचार प्रधान ग्रन्थमें जहाँपर वस्त्रपात्रसे लगते हुये नियम लिखे गये हैं वहाँ बहुतसी जगह ऐसा उल्लेख किया है कि 'यह तो जिनकल्पीका आचार है, यह सूत्र जिनकल्पीको उद्देश कर लिखा गया है और यह बात जिनकल्पको ही घट सकती है'। जहाँ तक मैं समझता हूँ, टीकाकारके ये उल्लेख मूलका स्पर्श तक नहीं करते, क्योंकि यदि उस प्रकार नामोंके विभागानुक्रमसे ही आचारोंका बन्धारन किया गया होता तो मूलमें ही क्यों न वैसा उल्लेख किया

गया होता। मूलमें तो मात्र विशेषता रहित भिक्षु और भिक्षुणी शब्दोंमें ही मुनियोंके आचार लिखनेका प्रारंभ किया गया है। साथ ही यहाँ पर मुझे यह भी बतला देना चाहिये कि टीकाकारने इस तरहका मूलको स्पर्श न करनेवाला अर्थ करते हुए कईएक जगह तो अपने सम्प्रदायसे भी विरुद्ध कलम चलादी है। कहीं २ पर वे स्पष्ट रूपसे स्खलित भी होगये हैं। रा० रवजी भाई द्वारा छपे हुवे आचारांग सूत्रमें पृ०११३ में ५५६ वीं कलम में, पृ० १६० में ८२४ वीं कलम में और पृ० १६४ में ८४१ वीं कलममें भिक्षु और भिक्षुणीके आचार एकसमान लिखे गये हैं। तथापि टीकाकारने उन कलमोंके भावको जिनकल्पियों के लिये घटानेका साहस करके स्पष्टतया अपने सांप्रदायिक सिद्धान्तका बाध किया है। क्योंकि श्वेताम्बर संप्रदायमें पुरुष ही जिनकल्पके अधिकारी माने गये हैं स्त्री नहीं। तब फिर जो आचार समानतया भिक्षु और भिक्षुणीके लिये लिखा गया हो उसे जिनकल्पीका आचार किस प्रकार कहा जा सकता है? कुछ देरके लिये उसे जिनकल्पीका ही आचार मान लिया जाय तो फिर उसमें आये हुये भिक्षुणी शब्दके अर्थ

को किस तरह संगत किया जाय? तथा जिस जिनकल्पके विच्छेद होनेका श्रीजिनभद्रसूरिजी ने जिनभगवानके नामसे दुंदुभिनाद सुनाया है उसे यदि उचित और प्रमाणिक मान लिया जाय तो उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले आचार्योंका उल्लेख सूत्रों एवं अन्यग्रन्थोंमें किस तरह हो सकता है? इस प्रकार अपने समयके संप्रदायकी रक्षा करते हुये टीकाकारने "जिण कप्पिया इत्थी न होई" अर्थात् स्त्री जिनकल्पी नहीं हो सकती, इस प्रकारके सांप्रदायिक सिद्धान्तको बाधित किया है। यह बात उनके लिये 'अजा निरासे उष्ट्रप्रवेशः, जैसी हुई है। इस तरह मात्र सांप्रदायिक मोहके लिये ही प्रवचनके ऐसे अनेक व्यापक सूत्र भी विपर्यास को प्राप्त होगये हैं। परन्तु संप्रदायका मोह इतना कीमती है कि उसकी रक्षाके लिये ऐसे अनेक विपर्यासोंका हिसाब कुछ भी नहीं गिना जाता मैं अपने मान्यतम पूर्वजोंकी ऐसी स्थिति को ही तमस्तरण कहता हूँ और इसी हकीकत को मैं साहित्यका विकार कहता हूँ। यहाँपर पाठक स्पष्टरूपसे समझ सके होंगे कि जैनसाहित्यमें विकार होनेसे उसकी हानिका प्रथम

फल तो यह श्वेताम्बरता और दिगम्बरताकी निरर्थक किन्तु भीषण लड़ाई है। इस सम्बन्धमें यहाँपर यद्यपि विशेष लिखनेका प्रसंग प्राप्त है तथापि अधिक लंबा होनेके भयसे इस विषय को मैं यहाँ ही खतम करना चाहता हूँ। फिर भी इतना तो मुझे अवश्य कह देना पड़ता है कि यह पूर्वोक्त श्वेताम्बरता और दिगम्बरताका झगड़ा परस्पर सिर्फ मुनियोंका ही था और है, परन्तु उन्होंने श्रावकोंकी क्रियापद्धतिमें भी उसे सम्मिश्रित कर उस पवित्र क्रियापद्धतिको भी लांछित किये बिना न छोड़ा। ऐसा करनेंसे श्रावकोंकी पारस्परिक एकतामें भंग पड़नेके कारण उन्हें भी अपने समान ही कलही और मताग्रही बनानेका प्रयास किया है। इससे वर्तमान श्वेताम्बर दिगम्बरके महासमरांगण का सेना पतित्व भी उन्हीं और उनकी वर्तमान सन्तानेंाको ही शोभता है। इस विषयको मैं चैत्यवाद नामक दूसरे मुद्देमें विशेष स्पष्ट करना चाहता हूँ, तथापि संक्षेपमें इतना बतला देनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है कि हमारे बापदादाओं द्वारा बोये हुये इस वृक्षपर आजतक कितने और कैसे २ मीठे फल पकते आये हैं।

१. श्वेताम्बर संप्रदाय स्पष्टतया जुदा हुये बाद वीरात् ८८२ वें वर्षमें उनमेंका विशेष भाग चैत्यवासी बन गया।

२. वीरात् ८८६ वें वर्षमें उनमें 'ब्रह्मदीपिका' नामक नये संप्रदायका प्रारंभ हुवा।

३. वीरात् १४६४ वें वर्षमें 'वड़गच्छ' की स्थापना हुई।

४. विक्रमात् ११३६ वें वर्षमें 'षट्कल्याणकवाद' नामसे नया मत प्रचालित हुवा।

५. विक्रमात् १२०४ वें वर्षमें 'खरतर' संप्रदाय का जन्म हुवा।

६. विक्रमात् १२१३ वें वर्षमें 'आंचलिक' मतका प्रादुर्भाव हुवा।

७. विक्रमात् १२३६ वें वर्षमें 'सार्धपौर्णिमीयक' मत निकला।

८. विक्रमात् १२५० वें वर्षमें 'आगमिक' मतका प्रारंभ हुवा।

९. विक्रमात् १२८५ वें वर्षमें 'तपागच्छ' की नींव रक्खी गई।

१०. विक्रमात् १५०९ वें वर्षमें 'लुंकामत' का बीजारोपण हुवा और १५३३ वें वर्षमें उस मतका साधुसंघ स्थापित हुआ।

११. विक्रमात् १५६२ वें वर्षमें 'कटुकमत' प्रचलित हुवा।

१२. विक्रमात् १५७० वें वर्षमें बीजामत प्रगट हुवा

१३. विक्रमात् १५७२ वें वर्षमें श्रीपार्श्वचंद्रसूरिने अपना पक्ष स्थापन करनेकी गुजरातके वीरमगाममें कमर कसी।

इसके उपरान्त इसी वृक्षकी शाखायें ढूंढ़िया, तेरापंथी, भीखमपंथी, विधिपक्षी और तीन थोइया वगैरह फली फूली हैं। चौथ पंचमीका झगड़ा, अधिक मासका झगड़ा, चतुर्दशी और पूर्णिमाका झगड़ा, उपधानका झगड़ा, श्रावक प्रतिष्ठा विधि करा सके या नहीं ? इस बातका झगड़ा, इत्यादि अनेकानेक विषवेलें इस वृक्ष पर चारों तरफसे लिपट रही हैं। इन झगड़ों को मजबूत बनानेके लिये इनपर अनेक ग्रंथ भी लिखे जाचुके हैं और वर्तमानमें भी हमारे बुजुर्ग कुलगुरुओंने उस प्रकारके ग्रंथ लिख कर भावी प्रजाको सशस्त्र बनाने की प्रवृत्ति प्रचलित

रक्खी है, इस बातके लिये उन्हें कितना अधिक धन्यवाद !!! इन परिवर्तनोंके बीचमें ऐसे महा-पुरुष भी होगये हैं जिन्होंने इस गिरते हुयेसमाज को बचा लिया है और क्रियोद्धार करके फिरसे यथास्थान पर लानेका प्रबल प्रयत्न भी किया है, एवं कईएक ऐसे महात्मा भी होगये हैं कि जिन्होंने गिरते हुये समाजकी ओर दुर्लक्ष करके अपनी सत्ताको विशेष जमानेके लिये ही प्रयत्न सेवन किया है। विक्रम संवत् १३०२ में क्रियोद्धा-रक जगचंद्रसूरिके गुरुभ्राता सुखशील विजय-चन्द्रसूरिने निम्न लिखित उद्घोषणा करके अपनी सत्ताको अचल बनाया था।

१ * गीतार्थ, वस्त्रोंकी गठाड़ियां रख सकते हैं।
२ ,, हमेशह घी दूध खा सकते हैं।
३ ,, कपड़े धो सकते हैं।
४ ,, फल तथा शाक ले सकते हैं।
५ ,, साध्वीद्वारा लाया हुवा आहार खा सकते हैं और
६ ,, श्रावकोंको आवर्जित करने-

---

* विजय चंद्र सूरिने ये उद्घोषणायें मात्र गीतार्थोंके लिये ही की हैं यह पट्टावलीके उल्लेखसे स्पष्ट मालूम होता है। परन्तु आधुनिक समयमें कोई विरला ही साधु होगा जो पूर्वोक्त

खुशी करने-अपने पक्षमें रखनेके लिये उनके साथ बैठकर प्रतिक्रमण भी कर सकते हैं, इत्यादि (धर्मसागरजी की शोधित पट्टावली, ४५ वाँ देवेन्द्रसूरिका प्रकरण) इस तरह भगवान पार्श्वनाथके ऋजुप्राज्ञ शिष्योंके आचार जैसे सुखशील आचारोंको और फिर एक आचार्यद्वारा मुद्रित होकर उद्घोषित होते आचारोंको देख कर कौन गीतार्थ त्यागकी ओर ध्यान देगा? कौनसा गीतार्थ घी दूध खाना छोड़ देगा? कौनसा गीतार्थ फल और शाक न खायगा? कौनसा गीतार्थ स्वयं गौचरी जानेकी तकलीफ उठावेगा और कौनसा गीतार्थ श्रावकोंका मक्खन त्याग देगा? मेरी मान्यतानुसार पूज्य श्री जगच्चन्द्रसूरिने क्रियोद्धार करके जो उग्रत्यागकी स्थापना करनेका प्रयास किया था विजयचन्द्रने उसपर पानी फिराने जैसा करके निर्ग्रन्थोंके वि-

---

प्रत्येक उद्घोषणाकी तामील न करता हो, अथवा यह समझना चाहिये कि वर्तमान में विद्यमान समस्त साधु मात्र गीतार्थ हैं। ऐसा न हो तो आज घर घरके जैनाचार्य, ब्राह्मणों के बनाये हुये शास्त्रविशारद, न्यायविशारद, जैन धर्म भूषण, उपाध्याय, गणी और पंन्यासादि पदवीधरोंकी वर्षाती मेंढकोंके समान भरमार कहाँसे हो? (वाह रे जैनियोंके पंचम काल तुझे धन्य है)!

शुद्ध आचारोंको धूलमें मिलानेका खुला प्रयत्न किया था। ऐसा होना उचित ही था, क्योंकि 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः' इस प्रकारकी प्राकृतिक फौजदारीसे कौनसा बलवान है जो बेदाग बच सके ? इसी तरह दिगम्बरोंमें भी छोटेबड़े अनेक पंथ प्रचलित होगये थे कि जो आजतक भी विद्यमान हैं। द्राविड़संघ, यापनीयसंघ, काष्ठासंघ, माथुरसंघ, भिल्लकसंघ, तेरापंथ, बीसपंथ, तारणपंथ और भट्टारकप्रथा वगैरह। परिणाममें दोनों पक्षोंकी भयंकर हानि हुई है और वह यह कि जो आचार चारित्रको उज्वल करके आत्माको बलवान बनाते थे उनका वर्तमान समयमें दोनों पक्षोंमें सर्वथा अभाव होगया और धर्म सिर्फ एक निर्वाहका साधन जैसा बन गया है। श्रावकोंमें धार्मिक वैरभाव पूर्णजोशसे बढ़ता जा रहा है और दिन प्रतिदिन कलहकी सामग्रियोंमें होती हुई वृद्धिको रोका नहीं जा सकता। मैं चाहता हूँ कि पूर्वोक्त प्रत्येक मतका यहाँपर सविस्तर इतिहास दूं परन्तु लिखते समय मेरे पास उतना वक्त और उतनी सामग्री न होनेसे यह बात मुझे और किसी प्रसंगपर छोड़ देनी पड़ती है। मेरी नम्र

मान्यतानुसार जिस समय साधु चैत्यवासी हुये उस वक्त साधुओंके बन्धारनको जबरदस्त धक्का पहुँचा है और वह यहाँतक कि आजतक भी उसका प्रतिकार करना बिलकुल अशक्य हो गया है। चैत्यवास हुये बाद बहुतसे महापुरुषोंने उसका प्रतीकार करनेके लिये अनेकानेक भगीरथ प्रयत्न भी किये परन्तु उनसे उस चैत्यवासके विषमय असरका समूल उन्मूलन न हो-सका, यह भी हमारे दुर्भाग्यकी निशानी है। इच्छा थी कि इस चैत्यवासका ब्योरेवार उल्लेख करूँ परन्तु मुझे विवश होकर उसे संक्षिप्त करना पड़ता है। जो पाठक इस विषयको विशेष जानना चाहते हों उन्हें मात्र एक संघपट्टक ग्रन्थ ही देख लेनेकी प्रेरणा करता हूँ। इस विषयको लिखते हुये 'संबोध प्रकरण, ग्रन्थ पृ० सं० २-१३-१८ में श्रीहरिभद्रसूरिजी *लिखते हैं कि

---

* श्री हरिभद्रसूरिजी स्वयं भी चैत्यवासी संप्रदाय के थे। उनमें सिर्फ इतना ही फर्क था कि वे सदाचारी, शास्त्राभ्यासी और सुविहितानुसारी थे। उस समय उनके संप्रदायकी स्थिति तो ऊपर लिखे मुजब ही चली आरही थी। वह स्थिति विपरीत मालूम होनेसे उन्हें ऐसा लिखना पड़ा है। इसीसे यह साबित होता है कि वे कट्टर चैत्यवासी न थे, परन्तु उस संप्रदायमें से थे। वर्तमान यतिसंप्रदायमें भी

"ये लोग चैत्यमें और मठमें रहते हैं, पूजा करने का आरंभ करते हैं, अपने लिये देवद्रव्यका

यह बात देख पड़ती है कि उसका विशेष हिस्सा अनादरणीय कोटिका है तथापि अल्प प्रमाणमें भी उसमें सदाचारी और सुविहितानुसारी यति विद्यमान हैं। श्री हरिभद्रसूरिजी के विषयमें 'शतार्थी, नामक ग्रन्थमें श्री हेमचंद्राचार्यके सम-समयी सोमप्रभसूरिजी लिखते हैं कि "हरिभद्रसूरि मध्यान्ह समय दुःस्थित यानें दुखी या रंक लोगोंको भोजन देते थे। सोमप्रभाचार्यजी ने अपनी शतार्थीमें हरिभद्रजीको कामद विशेषण देकर उपरोक्त अर्थ लिखा है। कामद शब्दकी टीका करते हुये उन्होंने इस प्रकार लिखा है।

"कामद ! शंख वादन पुरस्सरं प्रातर्लोकानां स्व-पर-शास्त्र-संशयच्छेदनरूपान् मध्याह्ने दुस्थितानां यथा-भीष्ट भोजन प्राप्तिरूपान्, अपराह्ने प्रतिवादिनां वादविनोद रूपांश्च (कामान्) ददाति-इति (कामद !)"

श्रीहरिभद्रजीकी बौद्ध साधुओंके जैसे मात्र यह एक दान देनेके आचार परसे मैं उन्हें चैत्यवासी सम्प्रदायके कहने की हिम्मत करता हूं। अन्यथा उनके ग्रन्थ आज गणधरोंकी वाणीको भी भुलाते हैं। इस दान देनेकी हकीकत को उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने भी अपने द्वात्रिं-शिका नामक ग्रन्थमें याद की है। इस विषयमें मेरा नम्रमत है कि जबतक यह शतार्थीवाला उल्लेख अप्रामाणिक न साबित हो। तब तक शोधक विद्वान उन्हें चैत्यवासी सम्प्रदाय के कहें तो यह अयुक्त न होगा। ऐसा कहनेमें हम उनका अपमान नहीं करते। इस विषयमें विशेष अन्वेषण करके जो तथ्य मालूम देगा सो प्रगट करने की इच्छा है।

उपयोग करते हैं, जिनमंदिर और [१]शालायें चिनवाते हैं; इनमेंसे कितनेएक कहते हैं कि श्रावकों के सामने सूक्ष्म बातें न कहनी चाहियें, ❀ मुहूर्त निकाल देते हैं, निमित्त [२]बतलाते हैं और भभूती भी [३]डालते हैं। वे रंगविरंगे सुगन्धित तथा धूपित वस्त्र पहनते हैं, स्त्रियोंके समक्ष गाते हैं, साध्वियोंद्वारा लाये हुये पदार्थ खाते हैं, तीर्थपंडोंके समान अधर्मसे धनका संचय करते हैं, दो तीन दफा खाते हैं, तांबूल वगैरह ग्रहण करते हैं, घी दूध फलफूल और सचित्त पानीका भी उपयोग करते हैं, जौंनार आदि के प्रसंग पर मिष्ट आहार प्राप्त

---

१ "वर्तमान काल में धर्मगुरु बड़ी २ पाठशाला वगैरह संस्थायें स्थापित करते हैं और उसके वहिवट-प्रबन्ध कार्य में भी हस्तक्षेप करके संस्थाओं की दुर्दशा करते हैं यह बात सबके प्रत्यक्षही है। यह रिवाज शालायें चिनवानेसे भी खराब है ❀ श्रावकों को सूत्र न पढ़ने देनेकी बातका मूल इसी उल्लेख में समाया हुवा है। २ अपने भक्त श्रावकोंको सट्टा करनेकी सलाह देते हुये, सट्टा करनेके लिये दूसरे गांव भेजते हुये और लोटरी या सट्टेमें भक्तजन को लाभ प्राप्त हो इस लिये स्वयं जाप करते हुये कईएक मुनियोंको मैंने प्रत्यक्ष देखा है। ३ जिन्हें सन्तानें न होती हों ऐसी स्त्रियोंपर तो गुरुजी के

करते हैं, आहारके लिये खुशामद करते हैं और पूछनेपर भी सत्य धर्म नहीं बतलाते। सुबह सूर्योदय होते ही खाते हैं, वारंवार खाते हैं, विगइयोंको खाते हैं, लोच नहीं करते, शरीरसे मैल उतारते हैं, *साधुओंकी प्रतिमाको वहन करते हुये शरमाते हैं, जूता रखते हैं और बिना कारण † भी कमरपर वस्त्र लपेटते हैं। स्वयं भ्रष्ट होते हुये भी दूसरोंको आलोचना देते हैं, थोड़ीसी उपधिकी भी पडिलेहण नहीं करते, शय्या, जोड़ा आयुध और ताम्बे वगैरहके पात्र रखते हैं, स्नान करते, तैल लगाते और शृं-

---

हुलये हाथमें बालछेग पकड़ता हुआ आजकल भी सब अपनी नजर से देखते हैं। यह घासछेग प्रभृतीका भाई है। पाली-ताना और अहमदाबाद जैसे साधुओंके अखाड़ेवाले स्थलों में इस रिवाजका अनुभव होना सुशक्य है। वर्तमान कालीन धर्मगुरु इन प्रतिमाओंको धारण करते हुये लज्जित तो नहीं होते परन्तु वे इनका सर्वथा विच्छेद हुवा बतलाते हैं? और ऐसा कहकर पूज्य श्री हरिभद्रसूरि को अपमानित करते मालूम होते हैं। † बिना कारण कमर पर वस्त्र लपेटनेकी रीतिको अनाचार कहा गया है, तब फिर वस्त्रोंकी गठड़ियाँ रखने वाले आधुनिक मुनियोंको श्री हरिभद्रसूरि जी किन शब्दोंसे विभूषित करते?

गार सजते हैं, अतर फुलेल लगाते हैं। [१]अमुक गाँव और अमुक कुल मेरा इस तरहका ममत्व करते हैं। [२]स्त्रियोंका प्रसंग रखते हैं। श्रावकों-से कहते हैं कि-[३]मृतकार्य के समय जिनपूजा करो और उन मृतकोंका धन जिनदानमें देदो। धनके निमित्त [४]श्रावकोंके समक्ष अंगादि सूत्र वाँचते हैं, शालामें या गृहस्थियोंके घरमें खाजा वगैरहका पाक कराते हैं। [५]अपने हीनाचारवाले मृतक गुरुओंके दाहस्थली पर पीठ चिनवाते हैं

---

१ यह रीति आजकल स्पष्टतया प्रचलित है। २ उपधा-नादि तप जिसमें कि स्त्रियां ही अधिकतर हिस्सा लेती हैं, जहां होता हो वहाँके प्रसंगको इस प्रसंगको साथ मिलाइये। ३ आधुनिक समयमें मृतकके वाद पूजा पढ़ाना, पूजाकी सामग्री रखने, स्नात्र पढ़ाने और अठाई महोत्सव करनेकी जो धमाल चल रही है वह चैत्यवासियों की ही प्रवृत्तिका परिणाम है। ४ वर्तमानमें जब कहीं भगवती सूत्र या कल्पसूत्र पढ़ा जाता है तब श्रावकोंको अपनी जेवमें हाथ डालना पड़ता है, यह बात पाठक भलीभाँति जानते हैं। इस रीतिमें इतना सुधार हुवा है कि गुरुजी खुले तौरसे उस द्रव्यको नहीं लेते। ५ जिस प्रकार विवाहमें सीठने गाये जाते हैं, वैसे ही उपाश्रयमें 'गुरुजीने जोइये सोनाना पूठा अमे क्यांथी लावीये, इत्यादि मधुर ध्वनिसे श्राविकायें गुरुजी की मजाक

बलि करते हैं। ६उनके व्याख्यानमें स्त्रियाँ उनके गुण गाती हैं। ७मात्र स्त्रियोंके समक्ष भी वे व्याख्यान देते हैं और साध्वियां मात्र पुरुषोंके सामने भी व्याख्यान देती हैं। ८भिक्षाके लिये नहीं फिरते, मंडलीमें बैठकर भोजन भी नहीं करते। सारी रात सोते हैं, गुणवान पुरुषोंकी तरफ द्वेषभाव रखते हैं, क्रयविक्रय करते हैं, प्रवचनके बहाने विकथायें करते हैं। चेला बनानेके लिये द्रव्य देकर छोटे बालकोंको खरीदते हैं। मुग्ध-भोले जनोंको ठगते हैं, ९जिन प्रतिमाओं को बेचते हैं और खरीदते हैं, उच्चाटन वगैरह

उड़ाती हैं, यह रीति निन्दनीय है और यह चैत्यवासियों की ही प्रथा है अतः अनाचरणीय है। ६ वर्तमान कालमें यह रीति भी कितनीएक जगह प्रवर्त रही है। ७ निर्दोष भिक्षा आदि आवश्यक कार्यके लिये श्रीगौतम स्वामी स्वयं पधारते थे, परन्तु आधुनिक समयके आचार्य (?) तो उस कार्यके लिये विचारे मुग्ध क्षुल्लक मुनियोंको धकेलते हैं, मानो वह काम मजदूरोंका न हो। जहाँ साधुओंके ही लिये रसोड़े खुलते हों, विहारमें मुनियोंके लिये ही गाड़ी व रसोइया साथ भेजा जाता हो वहाँ पर फिर भिक्षाकी निर्दोषताकी बात ही क्या करनी? (इसीका नाम तो पंचमकाल है?) ८-९

भी करते हैं,[१०]वैद्यक करते हैं, यंत्र मंत्र करते हैं, तावीज गंडा करते हैं। [११]शासनकी प्रभावना के बहाने लड़ाई झगड़े करते हैं। सुविहित मुनियोंके पास जाते हुये श्रावकोंको रोकते हैं, शाप देनेका भय बतलाते हैं, द्रव्य देकर अयोग्य शिष्योंको भी खरीदते हैं, व्याज लेनदेनका व्यापार करते हैं, अविहित अनुष्ठान करनेसे प्रभावना होती बतलाते हैं। प्रवचनमें न बतलाये हुये तपकी प्ररूपणा करके उसका उद्यापन कराते हैं। अपने लिये वस्त्र, पात्र, उपकरण और द्रव्य अपने अनुरागी गृहस्थोंके घर पर इकट्ठा कराते हैं, प्रवचन सुनाकर गृहस्थोंसे धनकी आकांक्षा रखते हैं, ज्ञानकोशकी वृद्धिके लिये धन एकत्रित करते और कराते हैं। उन सबमें किसीका समुदाय परस्पर मिलाप नहीं रखता, सबमें परस्पर विसंवाद है। अपनी २ बड़ाई करके सामाचारीका विरोध करते हैं। वे सब लोग विशेषतः स्त्रियोंको ही उपदेश देते हैं,

---

ये रीतियां आज यतिवर्ग में विद्यमान हैं। १०-११-वर्तमान समय में इन रीतियों की विद्यमानता के लिये किसी प्रमाण की आवश्यता नहीं है क्योंकि ये सब जगह प्रचलित हैं।

स्वच्छन्द होकर वर्तते हैं, धमाल मचाते हैं, अपने भक्तके सरसों समान गुणको भी मेरु समान गा वतलाते हैं, विशेष उपकरण रखते हैं, घर २ जाकर धर्मकथायें सुनाते हुये भटकते हैं। सबके सब अहमिंद्र हैं, अपनी गरज पड़ने पर मृदु बनते हैं और गरज पूरी होनेपर ईर्षा करते हैं। गृहस्थियों का बहुमान करते हैं, गृहस्थोंको संयमके सखा कहते हैं, चंदोवा और पूठियाकी वृद्धि करते जारहे हैं, नांदकी आमदमें भी वृद्धि किये जारहे हैं, गृहस्थोंके पास स्वाध्याय करते हैं और परस्पर विरोध रखते हैं, तथा चेलोंके लिये परस्पर लड़ मरते हैं। अन्तमें लिखते हैं कि "ये साधु नहीं किन्तु पेट भरनेवाले पेटू हैं, जो यह कहते हैं कि वे तीर्थंकरका वेश पहनते हैं, अतः वन्दनीय हैं, इस लिये श्रीहरिभद्रसूरिजी कहते हैं कि यह बात धिक्कारके पात्र है, यह मस्तक वेदनाकी पुकार किसके पास की जाय ?

इस प्रकार श्रीहरिभद्रसूरिजीने अपने चैत्यवासकी स्थितिके लिये सविस्तर उल्लेख करकें बड़ी कड़ी टीका की है और उन साधुओंको

निर्लज्ज, अमर्याद क्रूरादि अनेक विशेषणोंसे संबोधित किया है। इसी इबारतके साथ मिलती जुलती इबारत मैंने महानिशीथ सूत्रमें भी देखी है, परन्तु उसे यहाँ उधृत करके पुनरुक्ति करनेकी आवश्यकता नहीं है। इसके अलावा इस विषयके साथ सम्बन्ध रखनेवाली एवं अन्य भी बहुतसी उपयोगी बातें मैंने गुजराती भाषान्तर शतपदी नामक ग्रन्थमें भी विस्तृत विस्तार वाली पढ़ी हैं, परन्तु पाठकोंको मात्र उन ग्रन्थोंके पढ़ लेनेकी सूचना करनेके सिवा उनमें से मैं यहाँपर कुछ भी नहीं लिख सकता। चैत्यवासियोंके जो आचार ऊपर बतलाये गये हैं उनमेंसे कितनेएक तो आज भी वैसे ही विद्यमान हैं और कितनेएक आचारोंमें कुछ थोड़ाघना सुधार भी हुवा मालूम देता है। इस सम्बन्धमें जो नीचे नोट दिये हैं पाठकोंका उस ओर खास ध्यान खींचता हूँ। मैं मानता हूँ कि जो रोग हड्डियोंतक में व्याप्त हो गया हो उसका शीघ्र उन्मूलन होना सहज काम नहीं है, वैसे ही चैत्यवासका जो असर मुनियोंके मूल आचारों पर हो गया है उसे सहज ही में दूर करना बड़ा कठिन है, तथापि जैन समाज यदि महात्मा

गांधीजी जैसे किसी समर्थ पुरुषको पैदा करे तो यह रोग एक क्षणभर भी नहीं टिक सकता। इतना लिखकर और इसमें श्वेताम्बर दिगम्बर से लगता इतिहास तथा उन दोनों पक्षोंका परिणाममें चारित्रकी क्षति बतला कर म अपने प्रथम मुद्देकी चर्चाको यहाँ पर ही समाप्त करके चैत्यवाद नामक दूसरे मुद्देकी ओर चलता हूँ। पाठक महाशय भी इसी तरफ ध्यान देंगे ऐसी आशा रखते हुए अब मैं प्रस्तुत विषयका उपक्रम करता हूँ।

चैत्यवाद ।
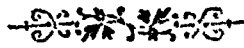
जैसे पूर्वोक्त प्रकारसे सिर्फ फूट पड़नेके कारण हमारा विशुद्ध जिनकल्प तथा स्थविर कल्प नष्ट होगया और उसकी जगह परम्परा-कल्प एवं रूढ़ीकल्पने घर कर लिया है वैसा ही चैत्यपूजाके सम्बन्धमें भी हुवा है। इस विषय-को आपके सामने रखनेसे पहले मुझे चैत्यके इतिहाससे लगता हुआ कितनाएक आवश्यक उल्लेख करना है। मात्र जैनशब्दकोश का प्रमाण देकर कहा जाता है कि "चैत्यं जिनौकः तद्बिम्बम्" (हेमचन्द्र) अर्थात् चैत्य शब्दका अर्थ जिनगृह और जिनबिम्ब होता है। कोश-का यह प्रमाण मैं भी मानता हूँ, परन्तु संस्कृत साहित्यमें ऐसे शब्द संख्याबद्ध हैं कि जिन-का अर्थ वातावरण के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। हमारा चर्चास्पद चैत्यशब्द भी उन्हीं शब्दोंमेंसे एक है। जब कभी ऐतिहासिकोंसे शब्दोंके इतिहासको पूछा जाता है तब वे उसके वातावरणजन्य अर्थकी ओर ध्यान न देकर उस-की मूल उत्पत्ति, व्युत्पत्ति और प्रवृत्तिकी तरफ

लक्ष्य करते हैं। उसी प्रकार यदि चैत्य शब्दकी मूल उत्पात्ति, व्युत्पात्ति और प्रवृत्तिकी तरफ लक्ष्य किया जाय तब ही उसका असली अर्थ हमारे हाथ आसकता है। 'चिता' 'चिति' 'चित्य' और 'चित्या' इन चार शब्दोंमें चैत्य शब्दकी जड़ मिल सकती है। इन चारों शब्दोंका अर्थ एकसमान है और वह 'चे' होता है, अर्थात् चेका सम्बन्धी याने उसपर बना हुवा या उसके निमित्त बना हुवा या अन्य किसी आकारमें रही हुई उसीकी सत्ता-यादगार उसे 'चैत्य' कहते हैं। जिस जगह मृतकका अग्निसंस्कार किया जाता है, वहाँ उसकी राखपर ही कुछ निशान बनाया जाता है, उसीको चैत्य कहते हैं। चैत्य शब्दका यह मूल एवं मुख्य अर्थ है और सबसे अतिप्राचीन अर्थ भी यही है। कदाचित् यह अर्थ करनेमें मेरी भूल हो ती हो तो तदर्थ पाठक महाशय निम्न लिखित प्रमाणों की ओर ध्यान दें—संसार-प्रसिद्ध इंगलिश विश्वकोशमें (Encyclopedia) एन्साइक्लोपीडीआमें चैत्यशब्दके लिये निम्न प्रकारसे लिखा है—

Chaitya :—(Sanskirt, an adjective form

derived from "Chita" a funeral pile)–In accordance with its etymology the word might denote originally anything connected with a funeral pile e. g. the bimulus raised over the ashes of the dead person, or a tree marking the spot. Such seems to have been its earlier use in Indian literature, whether Brahamanical, Buddhist, or Jain; but as the custom of erecting monuments over the ashes or over the relics of departed saints prevailed chiefly among the Buddhists and the Jains, the word (or one of the Prakrit equivalents, Pali chaitya, etc.) is especially characteristic of their literature. In this sense it is practically synonymous with stupa, 'tope', in India (though stupa is rasker architecture and chaitya the religious, term) and has various equivalents in the countries of Asia to which the custom extended with the spread of Buddhism. At a later period chaitya was used more generally to denote any shrine, reliquary or sacred tree. This is clear not only from the references in the literature, but also from the express

statement in a Sanskirt dictionary of synonymous, the Viva pravasa of Mahesvara, kavi (A. D. 1111), quoted by the Commentary of Mallinatha, (14th Century A. D.) on Kalidas's Meghaduta, Verse 23.

Encyclopedia of Religion and Ethics
Vol 3. page 335.

"चैत्य चिता शब्दसे निष्पन्न हुवा विशेषण-रूप है, याने उसकी व्युत्पत्तिके अनुसार चैत्य-शब्दका मूल अर्थ चिताका सम्बन्धी होता है। उदाहरणके तौरपर मृतक मनुष्यकी राखके ऊपर चिना हुवा स्तूप (Tumulus) या उस स्थानके चिन्ह स्वरूपमें रोपित किया हुवा वृक्ष। इस शब्दका सबसे पुराना अर्थ भारतीय साहित्यमें, चाहे वह साहित्य वैदिक हो, बौद्ध हो, या जैन हो यही किया गया देख पड़ता है। परन्तु स्वर्गवासी महात्माओंके अवशिष्ट अस्थि या भस्मपर इस प्रकारके स्मारक बनानेका रिवाज मुख्यतया बौद्धों और जैनोंमें ही प्रवर्तित होनेसे यह शब्द (जिसका एक प्राकृत भाषा या पालीका रूप 'चेतिय' इत्यादि होता है) इन्हीके साहित्यका खास पारिभाषिक शब्द है। इस अर्थमें वस्तुतः भारतवर्षमें मिलनेवाले स्तूप

शब्दका पर्याय बनता है। स्तूप और चैत्यमें इतना ही फर्क है कि स्तूप शब्द शिल्पशास्त्रसे और चैत्य शब्द धर्मशास्त्रसे सम्बन्ध रखता है। एशियाखंडमें बुद्धधर्म पसरनेके साथ २ ही जिन २ देशोंमें वह रिवाज प्रचलित होता गया त्यों त्यों उन देशोंकी भाषामें उस शब्दके अनेक पर्याय शब्द उत्पन्न होते गये। गत समय में यह चैत्य शब्द विशेष साधारणरीत्या किसी भी मंदिर, अवशिष्टाधार-भाजन या पवित्र वृक्ष इत्यादिके वाचकके तौरपर उपयोगमें लिया जाने लगा था, यह बात साहित्यमें मिलनेवाले उसके उल्लेखों द्वारा जितनी सिद्ध होती है उतनी ही पर्याय दर्शक संस्कृत कोशोंपरसे साबित होती है। यह विषय कवि कालिदास रचित मेघदूतके २३ वें श्लोकपर मल्लिनाथकी ई० सन् १४ वीं शताब्दीकी टीकामें उल्लिखित महेश्वर कवि ईस्वी सन् ११११ के विश्वप्रवासपरसे भी देखा जा सकता है (एन्साइकलोपीडिया ऑफ रीलिजीयन एण्ड एथिकस)।

बनारससे प्रगट होती नागरी प्रचारिणी पत्रिकामें 'देवकुल' विषयके लेखमें चैत्यशब्दके सम्बन्धमें इस प्रकार उल्लेख किया है-

"देवपूजाका पितृपूजासे बड़ा सम्बन्ध है। देवपूजा, पितृपूजासे ही चली है। मंदिरके लिये सबसे पुराना नाम "चैत्य" है, जिसका अर्थ चिता (दाहस्थान) पर बना हुआ स्मारक है। शतपथ ब्राह्मणमें उल्लेख है कि शरीरको भस्म करके धातुओंमें हिरण्यका टुकड़ा मिला कर उन पर स्तूपका चयन (चुनना) किया जाता था। बुद्ध के शरीर धातुओंके विभाग तथा उनपर स्थान २ पर स्तूप बननेकी कथा प्रसिद्ध ही है। बौद्धों तथा जैनोंके स्तूप और चैत्य पहले स्मारक चिन्ह थे, फिर पूज्य होगये।"

(पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए० अजमेर)

आगमोदय समितिवाले आचारांग सूत्रमें इस विषयमें नीचे मुजब बतलाया है—'चेइयमहेसु' (पृ० ३२८) चेइयाइं (पृ० ३६६–३६७) रुक्खं वा चेइयकडं' 'थूभं वा चेइयकडं' (पृ० ३८२) और 'मडयथूभि-ासु वा मडयचेइयेसु वा (पृ० ४२०) इस प्रकार इतनी जगह आचारांग सूत्रमें चैत्यशब्दका उपयोग किया गया है। सूत्रोंमें जहाँ कहीं चैत्यशब्दका उपयोग किया गया है वहाँपर विशेषतः उसका व्यन्तरायतन अर्थ किया गया है। यह व्यन्तरायतन और कुछ

नहीं किन्तु स्मशानमें, उज्जड़ जगहमें, खण्ड-हरोंमें या गृहस्थोंके रहनेकी हदके किसी विभागमें जलाये हुये या दबाये हुये मृतक शरीरों पर चिनवाये हुये चबूतरे, स्तूप या कबरें हैं। विशेषतः मृतकोंके जलाने या दफनानेकी जगहमें ही व्यन्तरोंका निवास लोक प्रतीत है, अतः वैसी जगहमें चिने हुये चबूतरे, स्तूप या कबरें, जिसे हम चैत्यशब्दसे संबोधित करते हैं, उसे व्यन्तरायतन—व्यन्तरके रहनेके स्थानकी संज्ञा भी संघटित होती है। तथा 'रुक्खं वा चेइयकडं थूभं वा चेइयकडं, 'मडयथूभियासु, 'मडयचेइएसु (मृतक चैत्येषु) ये सारे उल्लेख तो उसी अर्थको दृढ़ करते हैं जिस अर्थको हम उपरोक्त प्रमाणसे निर्विवाद समझते हैं। इस प्रकार आचारांगसूत्र चैत्यशब्दके उपरोक्त प्रमाणित अर्थ को ही पुष्ट करता है। इसके अलावा सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, (भगवती) ज्ञाता धर्मकथा, उपासकदशा, अंतकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण और विपाकश्रुत, इन समस्त सूत्रोंमें भी जहाँ २ पर मात्र चैत्यशब्दका उपयोग किया गया है वहाँ उसका व्यन्तरायतन ही अर्थ किया गया

है और इन अंगोंमें मात्र दो चार स्थल ही ऐसे हैं कि जहाँ चैत्यशब्दसे 'जिनचैत्य' (जिनकी चितापर चिना हुवा स्मारक चिन्ह) समझा जा सकता है, तथा जहाँपर 'अरिहंतचैत्य' ऐसा स्पष्ट पाठ मालूम होता है वहाँ तो वह अर्थ अरिहंतोकी चितापर चिना हुआ स्मारक चिन्ह) अनायास सिद्ध ही है। (यद्यपि टीकाकारोंने जिन चैत्य या अरिहन्त चैत्यका अर्थ जिनप्रतिमा या जिनमन्दिर किया है, सो सही है, परन्तु अंगों-में आये हुये चैत्यशब्दका इस तरह अर्थ करते हुये उन्होंने जो विषम भूल की है उसे मैं अब आ-पके सामने रक्खूंगा) ऊपर बतलाये सूत्रकृतांग आदि अंगोंमें जहाँ २ पर चैत्यशब्दका उपयोग किया गया है उन सब स्थानोंका सूत्रपाठ इस प्रकार है।

(२) सूत्रकृतांग-"(१) मंगलं देवयं चेइयं पज्जु-वासति" (नालंदीय अध्ययन, स० पृ०४२५) अंग सूत्रोंमें जहाँपर अमुक पुरुष, अमुक व्यक्तिका आदर करता है ऐसा उल्लेख आता है वहाँ सब जगह यह (मंगलं देवय चेइयं पज्जुवासति) उल्लेख दिया हुवा है। इसका अर्थ यह होता है कि जो उपासक है वह अपने उपास्यकी मंगल

के समान वा मांगलिक रीतिसे और देवत।के समान तथा चैत्यके समान या देवके चैत्यके समान पर्युपासना करता है। अर्थात् जैसे धर्मवीर और कर्मवीर पुरुषोंके चैत्य देव हुये बाद उनकी चितापर चिनाये हुये स्मारक पर्युपास्य हैं त्यों यह उपास्य भी उस उपासकको पर्युपास्य है।

(३) स्थानांगसूत्र-(१) मंगलं देवतं चेतितं पज्जुवासेत्ता (स० पृ० १०८ इस उल्लेखका अर्थ ऊपर बतलाये मुजब ही है।

(२-३) ("मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि") (स० पृ० १४२ और २४४) इसका भी अर्थ ऊपर बतला दिया गया है।

(४) (" तासि णं × उवरिं चत्तारि, चत्तारि, चेतितथूभा × × × तेसि णं चेतितथूभाणं पुरतो चत्तारि मणिपेढिआओ, तासि णं × उवरिं चत्तारि चेतितरुक्खा") (स० २२९-२३० नंदीश्वर विचार) इस उल्लेखमें चैत्यस्तूप शब्दका उपयोग किया गया है। इसका अर्थ भी उपरोक्त प्रकार से ही समझना चाहिये, अन्यथा इस शब्दका इस प्रकरणमें समन्वय होना संभावित नहीं है।

(४) समवायांग-(१) ("सुहम्माए सभाए माणवए

चेइयक्खंभे ××× वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु जिण-सकहाओ") (स० पृ० ६३) यहाँ पर उपयुक्त किया हुआ चैत्यस्तंभ शब्द भी उसी अर्थको सूचित करता है जो चैत्यका प्राचीन और प्रधान अर्थ है। टीकाकार महाशयने भी यहाँपर उसी मुख्य अर्थका अनुसरण किया है (सुधर्मसभामध्ये षष्टियोजनमानो माणवको नाम चैत्यस्तंभोऽस्ति, तत्र वज्रमयेषु गोलवट्ट वृत्ता वर्तुलाः ये समुद्गका भाजन-विशेषाः तेषु जिनसक्थीनि +++ तीर्थंकराणां × अस्थीनि प्रज्ञप्तानि") (स० पृ० ६४) अर्थात् सुधर्म सभामें एक चैत्यस्तंभ है, उसमें वज्रमय गोला-कार भाजनमें तीर्थंकरों की हड्डियां रक्खी हुई बतलाई है" टीकाकारने इस स्तंभकी ऊंचाई ६० योजन बतलाई है, पाठकोंको इस तरफ ध्यान देनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह देवताई स्तंभ है, मैं तो उसे ६० योजन के वदले ६०००० योजन ऊंचा माननेके लिये भी तैयार हूँ?

(२) "णायाधम्मकहासु णं णायाणं ××× चेइ-आइं"–स० (पृ० ११६) (३) "उवासगदसासु णं उवा-सगाणं ××× चेइयाइं (स० पृ० ११९) (४) × अंत-गडाणं ×× चेइयाइं'–(स० पृ० १२१) (५) "अणु-त्तरोववाइयाणं × चेइयाइं"–(स० पृ० १२२) तथा

(६) दुहविवागाणं × चेइयाइं, सुहविवागाणं चेइयाइं" स० पृ० १२५) इन पाँच स्थानों में चैत्य शब्द का उपयोग किया गया है। समवायांग सूत्रमें एक ऐसा प्रकरण है कि जिसमें बारह अंगोंमें दिये हुये विषयों की सूचि दी हुई है। वहाँपर ही ये पूर्वोक्त पाँचों उल्लेख भी दिये हैं। उनमें बतलाया है कि ज्ञाताधर्मकथा सूत्रमें ज्ञातोंके चैत्य, उपासक दशासूत्रमें उपासकोंके चैत्य, अंतकृद्दशा सूत्रमें अंतकृतोंके चैत्य, अनुत्तरौपपातिकदशा सूत्रमें अनुत्तरौपपातिकोंके चैत्य और विपाकसूत्रमें दुःख विपाक वालोंके एवं सुख विपाक वालोंके चैत्य बतलाये हैं"। इन उल्लेखोंमें भी चैत्य शब्दका वही प्रधान अर्थ चितापर चिना हुवा स्मारक ही घट सकता है। अर्थात् ज्ञातशब्दका टीकाकार द्वारा किया गया उदाहरण अर्थ यदि मान भी लिया जाय तो ज्ञातोंके चैत्योंका अर्थ इस प्रकार होता है-ज्ञाता सूत्रमें जिसके उदाहरण दिये हैं उसके चैत्योंका भी उसमें वर्णन किया है और वे चैत्य चितापर चिने हुये स्मारक के सिवाय अन्य संभवित नहीं होते। इसी तरह उपासकदशा सूत्रमें निरूपित उपासकोंके चैत्य, अंतकृद्दशा

सूत्रमें वर्णित अंतकृत पुरुषोंके चैत्य, अनुत्तरौप-पातिक सूत्रमें उल्लिखित अनुत्तर विमान गामियों के चैत्य और विपाक सूत्रमें दर्शाये हुये उन २ दुखी और सुखी पुरुषोंके चैत्य बतलाये हैं। इन समस्त उल्लेखोंका समन्वय भी ज्ञातोंके चैत्योंके समान ही हो सकता है और समन्वय का यही प्रकार तथ्य एवं इष्ट भी है। टीका-कारने इस उल्लेखके चैत्यशब्दको व्यन्तरायतन वाची कहा है, जो हमारी व्याख्याके अनुकूल होता है। (स० पृ० ११७-११६-१२१-१२२-१२६) परन्तु यह अर्थ इस प्रकरणमें संगत नहीं होता। पाठक स्वयं ही विचार सकते हैं कि ज्ञातोंके व्यन्तरायतन उपासकोंके व्यन्तरायतन अंतकृ-तोंके व्यन्तरायतन और अनुत्तर विमानगामि-योंके व्यन्तरायतन, इत्यादि वाक्योंका क्या अर्थ हो सकता है? कुछ भी नहीं। ऐसा अर्थ करनेसे यहाँपर असंगतिसी प्रतीत होती है। अतः यहाँपर टीकाकारके किये अर्थकी उपेक्षा करके हमें वही प्रसिद्ध अर्थ घटाना चाहिये।

(७) "एएसि णं चउवीसाए तित्थगराणं × चउ-व्वीसं चेइय रुक्खा भविस्संति"- (स० पृ० १५४) अर्थात् ये चौवीस ही तीर्थंकरोंके चौबिस चैत्य

वृक्ष होंगे।" यहाँपर नियोजित किया हुवा चैत्य-वृक्ष शब्द भी अपने स्मारक या निशानवाले अर्थको ही सूचित करता है। टीकाकार महाशयने भी यहाँ तो इसी अर्थकी पुष्टी की है। वे बतलाते हैं कि "चेइयरुक्खा–बद्धपीठ वृक्षाः, येषामधः केवलानि उत्पन्नानि इति" (स० पृ० १५६) अर्थात् जिन वृक्षोंके नीचे पीठ बाँधा हुवा है–चौंतरा वगैरह चिना हुवा है और जिनके नीचे तीर्थंकरोंको केवल ज्ञान प्राप्त हुवा है उन वृक्षोंको चैत्यवृक्ष कहा है। तीर्थंकरोंको प्राप्त हुये केवल बोधके स्मारक रूप पीठबद्ध वृक्ष ही यहाँपर चैत्यवृक्ष समझने चाहियें। इसी प्रकार सूत्रकृतांग, स्थानांग और समवायांग सूत्रके चैत्य शब्दसे लगते हुये समस्त उल्लेख उसके उसी प्रधान और प्राचीन अर्थका समर्थन करते हैं तथा अन्य भगवती आदि अंगोंमें भी इस विषयमें ऐसा ही अभिप्राय प्रदर्शित किया है और वह इस प्रकार है (५) भगवती सूत्रमें चैत्य-शब्दका उपयोग--(१) "असुर कुमाररण्णो × सभाए सुहम्माए माणवए चेइए खंभे वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गए बहूओ जिणसकहाओ संणिक्खित्ताओ चिट्ठंति" (अजीम पृ० ८७७) यह उल्लेख पूर्वोक्त समवायांग

सूत्रके उल्लेखसे मिलता जुलता है और इसका अर्थ भी उसके ही समान है। यहाँ भी श्री जिनेश्वर भगवानकी हड्डियाँ वज्रमय गोलडब्बे में भरकर चैत्यस्तंभमें रक्खी हुई हैं। टीकाकार भी चैत्यस्तंभके इस भावको समर्थन करते हैं। अतः यहाँपर नियोजित किया हुवा चैत्यस्तंभ शब्द अपने मूल और पुराने अर्थको सूचित करता है, यह बात निर्विवाद है। तथा (२) "चेइयाइं वंदइ" (अजीम पृ० १५०७-१५०८-१५०९) (३) "अरहंतचेइयाणि वा" (अजीम पृ० २४६-२५६) (४) "दिव्वं चेइयं" (अजीम पृ० १५१-२१८-८७७-१२४६) (५) "चेइयमहे" (अजीम पृ० ७९९) इन चारों उल्लेखोंमें भी चैत्यशब्द के उसी भावका समन्वय करना समुचित मालूम होता है जो उसका मुख्य और प्राचीन भाव है। इसके उपरान्त निम्न लिखित सभी स्थानोंमें चैत्य शब्दका उपयोग व्यन्तरायतन (व्यन्तरके रहनेका स्थान) के अर्थमें किया गया है। (६) 'गुणसिलए चेइये' (अजीम० पृ० ५-१४८-१८२-१९१-१९२-५०९-५११-५१२-५१४-६२२-१३०५-१३८१-१४०४-१४१४' (७) 'छत्तपलासए चेइये' (पृ० १५३-१६४) (८) 'पुप्फवईए चेइये' (पृ०१८२-

१८६-१८७-१८९-१९०-१९२-८३६) (९) 'नंदणे चेइए' (पृ० २११-२२५) (१०) 'पुण्णभद्दे चेइए' (पृ० ३०६-८३८-८४२-११२४-११२७) (११) 'माणिभद्दे चेइए' (पृ० ७१३) (१२) 'दूइपलासे चेइए' (पृ० ७३८-८७० ६३४-१४२२) (१३) 'बहुसालए चेइए' (पृ० ७८७-७८८-७९३-७९९-८००-८०२-८०४-८३१-८३४-८३७) (१४) 'कोट्ठए चेइए' (पृ० ८३८-८४२-९७७-९७८-१२००-१२३३-१२३६-१२५०-१२५३-१२६५)(१५)'संखवणे चेइए'(पृ० ९७०-९७४] (१६) 'चंदोत्तरायणे' चेइए (पृ ९८७) (१७)'मंडिकुच्छिंसि चेइए' (पृ० १२४२(१८) 'चंदोयरणंसि चेइए' (पृ० १२४२) (१९)'कंडियायणंसि चेइए' (पृ०१२४३) (२० 'सालकोट्ठयए चेइए' (पृ० १२६५-१२६६-१२६८-१२७०) (२१) 'एगजंबुए चेइए' (पृ० १३१०-१३१३]

भगवतीसूत्रमें सब जगह दिये हुये पूर्वोक्त चैत्य शब्दका अर्थ टीकाकारने भी व्यन्तरायतन ही समझनेका आग्रह किया है। वे लिखते हैं कि "चितेर्भावः कर्म वा चैत्यम् तच्चेह व्यन्तरायतनम्, नतु भगवतामर्हतामायतनम्" (पृ० ५) प्रसिद्ध कोशकार श्री हेमचंद्र सूरिजी लिखते हैं कि "चिति-चित्या-चितास्तुल्याः" (मर्त्यकाण्ड ३९) चिति चित्या और चिता, ये तीनों ही शब्द समानार्थक

हैं और इन तीनोंका अर्थ 'च' होता है। ऊपर बतलाये हुये टीकाके उल्लेखमें टीकाकारने इस चिति शब्दका ही उपयोग किया है और ऐसा करके यहाँ तो 'चत्य' शब्दकी उत्पत्ति, व्युत्पत्ति, प्रवृत्ति और अर्थ सब कुछ प्राचीन और प्रधान बतलाया है। अर्थात् इस उल्लेखने चत्यके प्रधान एवं यौगिक अर्थको ही दृढ किया है और चैत्य शब्दको लोक प्रवाहसे मुक्त करके स्वतंत्र कर दिया है।

यह बात तो मैं प्रथम ही सूचित कर चुका हूँ कि ज्ञाताधर्मकथासूत्र एवं अन्य अंगसूत्रोंमें भी जहाँ २ पर चैत्य शब्दका उपयोग किया गया है वहाँ प्रायः विशेषतः उसका व्यन्तरायतन अर्थ किया है। उन सूत्रोंमें जिन २ स्थानों में वह शब्द नियोजित किया गया है वे स्थान नीचे मुजब हैं।

(६) ज्ञाताधर्मकथासूत्र-(१) "पुण्णभद्दे चेइए" (समिति० पृ० ३-७-१६३-२२२ २५२) (२) "गुणसिलए चेइए" (समिति० पृ० ११-३६-४६-५५-७१-७८-२४१-२४६-२४७-२५१)(३) "अंबसालवणे चेइए" (समिति० पृ० २४८) (४) कोट्ठए चेइए" (समिति० पृ० २५१) (५) "कामसहावणे

चेइए" समिति० पृ० २५१) और (६) "देवयं चेइयं पज्जुवासवाणिज्जे" (समिति० पृ० २४५)।

(७) उपाशकदशा सूत्र (१) 'पुण्णभद्दे चेइए, (समिति० पृ० १-१६) (२) "दुइपलासए चेइए, (सामिति० पृ० १-१३-१८) (३) 'कोट्टए चेइए, (समिति० पृ० ३१-३४-५३) (४) 'गुणसिले चेइए, (सामिति० पृ० ४८) इस सातवें अंगसूत्रमें उपरोक्त चारों उल्लेखोंमें नियोजित किया हुआ चैत्यशब्द व्यन्तरायतनको सूचित करता है और इनके बादके दो उल्लेखोंमें उस शब्दका अनुक्रम से साधारण चैत्य और अरिहंतचैत्य अर्थ हैं। वे उल्लेख ये हैं, 'देवयं चेइयं, (समिति० पृ० ४०) (६) 'अरिहंत चेयाणि वा, (समिति० पृ० १२) अर्थात् इस अंगका एक भी उल्लेख चैत्य शब्दके मुख्य और प्राचीन अर्थका व्यभिचरण नहीं करता।

(८) अंतकृद्दशासूत्रमें (१) 'पुण्णभद्द चेतिए भांडारकर इन्स्टीच्यूट लि० १०७६ पृ० १-१६-१८) (२) 'गुणसिलते चेतिते, पृ० १३-१४-१६) (३) "कासमहावणे चेतिए" (पृ० १६) ये उल्लेख भी व्यन्तरायतनके अर्थको समर्थन करते हैं।

(९) अनुत्तरौपपातिकदशा (१) 'गुणसिलए चेतिए'

(भांडा० लि० १२० पृ० २७-२६) यह लेख भी इसी प्रकारका है।

(१०) प्रश्नव्याकरणसूत्रमें-(१) "पुराणभद्दे चेइए (समिति पृ० १) (२) "भवण-घर-सरण-लेण-आवण -चेतिय देवकुल--चित्तसभा-पवा-आयतण-- आवसह-भूमिघर मंडवाण य कए" (समिति पृ० ६३) इस प्रकरणमें जिन २ निमित्तोंसे हिंसा होती है उन सबका नाम निर्देश किया हुवा है, उसमें अन्य-नामों के साथ२ चैत्यका भी उल्लेख किया हुवा है और साथ ही देवकुलका उल्लेख होनेसे इस जगहका चैत्यशब्द चितापर चिने हुये स्मारक-को ही सूचित करता है। तदुपरान्त (२) "चे-तियाणि" (समिति० पृ० ६३) और (३) "तवस्सि-कुल-गुण-संघ-चेइयट्ठे" (समिति० पृ० १२२) इस प्र-कारके भी दो उल्लेख मिलते हैं। इनमें पहले उ-ल्लेखमें चैत्योंको देवोंके परिग्रह स्वरूप सूचित किया है। स्वर्गमें भी श्री जिनभगवानकी अ-स्थियाँ पहुँच गई हैं? याने वहाँपर उनके स्मा-रक चैत्यका होना संभव है। दूसरा उल्लेख चैत्यकी रक्षा करना बतलाया है। इस प्रकार ये दोनोंउल्लेख किसी धर्मवीरके स्मारकचिन्ह सिवा किसी अन्य अर्थको सूचित नहीं कर सकते।

(११) विपाकसूत्रमें-(१) (पुण्णभद्दे चेइए" पृ० १)(२) गुणसिलएचेइए" (पृ० १०३) इन दोनों उल्लेखोंका चैत्यशब्द भी उसी व्यन्तरायतनको द्योतित करता है जिसके विषयमें पहले बहुत कुछ लिखा जाचुका है। मुझे यह मालूम नहीं होता कि पूर्वोक्त प्रकारसे ग्यारह अंगोंमें उपयुक्त किया हुवा चैत्यशब्द अपने प्राचीन एवं प्रधान अर्थको प्रकाशित करनेमें जरा भी पीछे हटता हो या उसका वह अर्थ कहीं भी असंगत होता हो। भारतके प्रचीन वास्तुशास्त्री श्री वराह मिहिरने अपनी बृहत्संहिताके वास्तुविद्या नामक २५ वें अध्यायमें लिखा है कि "चैत्ये भयं ग्रह कृतम्, ग्रहा भूतानि पृ० ६८७) अर्थात् यदि कोई गृहस्थ चैत्यके पास अपना घर बनवाये तो उसे भौतिक भय होनेका संभव है। इससे यह बात विशेष दृढ़ होती है कि चैत्यकी जगहमें भूतों का वास होना संभावित है और इसपर से उसका सामीप्यजन्य सूत्रोंमें जगह २ जो व्यन्तरायतन नाम बतलाया है उसकी युक्ततामें विवाद मालूम नहीं देता, एवं चैत्यशब्दके प्राचीन तथा प्रधान अर्थको चितापर चिने हुये स्मारक स्तूपरूप अर्थ को भी कुछ बाधा नहीं पहुँचती।

अब मैं चैत्यके प्राचीन अर्थको ही दृढ़ बनाने के लिये कितनेक प्रसिद्ध २ कोशों के प्रमाण देता हूँ-पालीभाषाके सुप्रसिद्ध कोशमें चैत्यशब्द के सम्बन्धमें लिखा है-

Chaityam—A religious Building or shrine, a temple, a thupa or Buddhist relic Shrine, a sacred tree, tomb [चैत्यं]

DICTIONARY OF
THE PALI LANGUAGE BY CHILDERS.
P 102.

६ 'चैत्यं जिनौकः, तद्बिम्बम्, लिखनेवाले श्रीहेमचंद्रसूरिजी भी चैत्यशब्दके विषयमें लिखते हैं कि 'चित्यं मृतकचैत्ये स्यात्' (अनेकार्थ० द्वि-स्वर० ३६६) इस उल्लेखमें उन्होंने मृतक चैत्य-शब्द ग्रहण करके चैत्यशब्दके उसी अर्थका उपयोग किया है जो उसका प्राचीन और प्रधानार्थ है।

७ 'वाचस्पत्याभिधान नामक विशालकाय कोशमें इस शब्दके सम्बन्धमें निम्न प्रकारसे लिखा है "चैत्य न० चित्याया इदम् + अण्, "सेतु वल्मीक-निम्नास्थि चैत्याद्यैरुपलक्षिता' (याज्ञवल्क्य स्मृति)

८ 'शब्दकल्पद्रुम नामक प्रसिद्ध कोशमें चैत्यशब्दके विषयमें निम्न उल्लेख उपलब्ध होता है 'चैत्य न० पु० चित्यस्य इदम्' "यत्र यूपा मणिमयाश्चैत्याश्चापि हिरण्मयाः" (महाभारत)

९ 'बंगलाभाषा अभिधान, नामक बंगाली कोशमें चैत्यशब्दका अर्थ इस प्रकार किया है "चैत्य (चत) स्मृतिस्तंभ, चिताश्मशान + य (इदमर्थे यत्) पु० रथ्या (राख) किंवा श्मशान पार्श्वस्थ बौद्धगणेर-गणेर। पूज्यवृक्ष, श्मशानतरु, चिता सम्बन्धीय।

इस प्रकार चैत्यशब्दका मैंने जो अर्थ साबित करके बतलाया है मैं अनुमान करता हूँ कि उसमें पाठकोंको अब किसी तरहका संशय, विपर्य या भ्रम रहनेका अवकाश नहीं रहता। जैनसूत्रोंने और अन्यान्य प्रामाणिक शब्दकोशोंने भी इसी अर्थको प्रधानभावसे स्वीकृत किया है। अभीतक भी मेरे श्रद्धालु जैनीभाई इस सम्बन्धमें इस तरहका संशय कर सकते हैं कि जैनधर्ममें इस प्रकारके स्तूप करनेका रिवाज था या नहीं इस बातका क्या प्रमाण है? अन्ध श्रद्धा विवेचक दृष्टिके समक्ष संशय करती ही रहती है और वह विवेचक दृष्टि धीरे २ उसके

संशयोंको छेदती जाती है। लीजिये मैं वैसे प्रमाण देनेको भी तैयार हूँ और तदर्थ एकसे अधिक प्रमाण, सो भी आपके मान्य सूत्रग्रन्थोंके उल्लेख आपके सामने रखता हूँ—

जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति (अजीम० पृ० १४०–१४७)

"तए णं से सक्के देविंदे देवराया +++ भवणवइ-वाणमंतर-जोइस वेमाणिए देवे एवं वयासी-+तओ चिइगाओ रएह× तित्थगरचिइगाए, गणहरचिइगाए अणगारचिइगाए अगणिकायं विउव्वह×खीरोदगेणं णिव्वावेह×तए णं सक्के भगवओ×दाहिणं सकहं गेण्हइ" (इत्यादि) "तए णं से सक्के×वेमाणिए देवे जहारियं एवं वियासी-×भो देवाणुप्पिया! सव्वरयणामये महए महालये, तओ चेइयथूभे करह-एगं भगवओ तित्थगरस्स चिइगाए, एगं गणहरचिइगाए, एगं अवसेसाणं अणगाराणं चिइगाए×तए णं ते×

करेंति × तए णं जेणेव साइं साइं भवणाणि, × सगा सगा माणवगा चेइयक्खंभा, तेणेव × उवागच्छित्ता वइरामएसु गोलसमुग्गएसु जिणसकहाओ पक्खिवंति"

इस उल्लेखमें श्रीजिनभगवानोंके निर्वाणप्रसंगका वर्णन किया है। उसमें बतलाया है कि "देवेन्द्र[१] देवराज शक्रने देवताओंसे कहा कि तीन चितिका--चे बनाओ, एक तीर्थंकरकी, दूसरी गणधरोंकी और तीसरी सब साधुओंकी। उसमें अग्नि प्रगट करो और बादमें जलसे ठंडी

---

१ सूत्रकार और टीकाकारों का ऐसा खयाल है कि-महावीरभगवानकी प्रत्येक क्रिया प्रधानतया देवोंद्वारा कराई जाय तो उनकी विशेष बड़ाई हो, इसी धारणासे उन्होंने भगवान महावीरकी हड्डियां तक भी स्वर्गमें पहुँचा दी। भक्तिआवेश जन्य इस खयालका आज यह भीषण परिणाम उपस्थित हुवा है कि वर्तमान कालके मनुष्य, मानवजाति में उत्पन्न हुये श्री महावीर जैसे समर्थ व्यक्तिको भी नहीं पहचान सकते। मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि किसी स्वर्गवासी मनुष्य भले ही श्री महावीर को पहचाना हो, परन्तु हमें तो उनकी असली पहचान करानेका किसीने प्रयत्न ही नहीं किया।

करो। फिर उन शक्रादि देवोंने यथोचित रीत्या उस पवित्र भस्ममेंसे श्रीजिनभगवानोंकी अस्थियां चुन लीं (इत्यादि) इसके बाद शक्रेन्द्रने आर्यरीत्यनुसार देवताओंसे कहा कि हे देवो! तुम बड़ेसे बड़े रत्नमय तीन स्तूप रचो, एक तीर्थंकरकी चितापर दूसरा गणधरोंकी चितापर और तीसरा साधुओंकी चितापर। देवोंने शक्रकी आज्ञानुसार वहांपर तीन स्तूप बनाये और फिर वे देव अपने २ स्थानपर चले गये। अपने स्थानोंमें जाकर उन अस्थियोंको गोल डब्बेमें रखकर उन्होंने वे गोल डब्बे अपने २ चैत्यस्तंभमें रक्खे'। टीकाकार भी इसी अभिप्रायका समर्थन करते हैं। ततश्चितिकानिर्वापणादनु भगवतस्तीर्थंकरस्य ×× सक्थि शक्रो गृह्णाति × विद्याधराश्चिताभस्मशेषामिव गृह्णन्ति × भस्मनि गृहीते अखातायामेव गर्तायां जातायां मा भूत् तत्र पामरजनकृताशातनाप्रसङ्गः, सातत्येन तीर्थप्रवृत्तिश्च स्यादिति स्तूपविधिमाह + त्रीन् चैत्यस्तूपान् + कुरुत चितात्रयक्षितिषु इत्यर्थः" (अजीम० पृ० १४०–१४७) जो भाव उपर्युक्त मूल पाठमें बतलाया है उसी भावका अक्षरानुवाद टीकाकारने किया है। इतना विशेष दर्शाया है कि भगवान के दाहस्थानकी आशा-

तना न हो और निरन्तर तीर्थप्रवृत्ति हो इसी कारण चितास्थान पर चैत्यस्तूप बनाये जाते हैं। इस प्रकार टीकाकारने चैत्यशब्दके प्रधानार्थ की पूज्यता भी बतलाई है। इसी तरहका एक दूसरा उल्लेख ज्ञाताअंगसूत्रकी टीका जो समिति द्वारा छपी है पृ० १५५ में मिलता है, उसे पाठक स्वयं देखलें।

अबतो पाठकोंका मन ठंडा होगया होगा, चैत्यशब्दके प्रधान अर्थके विषयमें एवं जैनी पद्धातिके सम्बन्धमें भी पूर्वोक्त अनेक प्रमाणों द्वारा उसकी असलीयतको पाठक भलीभाँति समझ गये होंगे। अब मैं आपको यह बात भी स्पष्टतया कह देना चाहता हूँ कि इस चैत्यशब्द के प्रधानार्थमें ही मूर्तिपूजाकी जड़ समाई हुई है। मूर्तिका मूल इतिहास चैत्यसे ही प्रारंभ होता है और मूर्तिका प्रथम आकार भी चैत्य ही है। वर्तमान समयमें जो मूर्तियां देख पड़ती हैं वह उत्क्रान्तिकी दृष्टिसे विकाशको प्राप्त हुई एक प्रकारकी शिल्पकलाका नमूना है। जो मूर्तियां श्वेताम्बर जैनियोंके अधिकारमें हैं उनका सौन्दर्य और शिल्प उन्होंने बनावटी तिलक व चक्षु-आंखें लगाकर तथा इसी प्रकारके अन्य

शिष्ट असंगत और अशास्त्रीय आचरणों द्वारा नष्ट भ्रष्ट कर डाला है। तथापि वे मूर्तिपूजकता का दावा करते हैं, मैं इसे धर्मदंभ और ढोंग समझता हूँ। अपने पूज्य देवकी मूर्तिको पुतली के समान अपनी इच्छानुसार नाच नचाते हुये भी उसकी पूजकताका सौभाग्य इसी समाजने प्राप्त किया है ? अपने इस समाजकी ऐसी स्थिति देखकर मूर्तिपूजकके तौरपर मुझे भी बड़ा दुःख होता है।

मैं पहले एक प्रमाणमें यह बतला चुका हूँ कि हमारे पूर्वजोंने चैत्योंको पूजनेके लिये नहीं बल्कि उन मरनेवाले महापुरुषोंकी यादगारके तौरपर निर्माण किये थे। परन्तु बादमें उनकी पूजा प्रारंभ होगई थी और वह आज तक चली आरही है। जो मनुष्य पदार्थके विकाश क्रमके इतिहास को समझ सकता है वही पूर्वोक्त विषयको सहजमें समझ सकेगा। परन्तु जिसके मनमें वर्तमान धर्म, उसके वर्तमान नियम और उसमें पूर्वापरसे घुसी हुई कितनीएक असंगत रूढियां एवं वर्तमान मूर्तिपूजा वगैरह अनादि कालीन भासित होता होगा, राजा भरतके समयका प्रतीत होता होगा उसे तो मैं शास्त्र

पढ़नेका निवेदन करनेके सिवा अन्य कुछ नहीं समझा सकता। आप इस बातको भली प्रकार जानते हैं कि वड़का बीज कितना सूक्ष्म और हलका होता है, परन्तु समय पाकर अनेक प्रकार के अनुकूल संयोग मिलनेसे वही बीज ऐसा रूप धारण कर लेता है कि जिसकी कल्पना करना भी हमें कठिन प्रतीत होता है। पहाड़ोंसे निकलनेवाली नदियें छोटेसे स्रोतके रूपमें जन्म लेती हैं, परन्तु ज्यों २ वे अपने जन्मस्थानसे अधिक दूरीपर जाती हैं त्यों २ अधिकाधिक बढ़ती हुई भयानक प्रवाहवाले रूपको धारण करलेती हैं, इसी तरह हरएक पद्धति जिसका प्रारंभ बिलकुल सादा और अमुक हेतुपर अवलम्बित होता है वह समय पाकर इतना बड़ा और विचित्ररूप धारण कर लेती है कि जिससे हमें उसकी प्रारंभिक स्थितिको समझना या समझाना बड़ा कठिन मालूम होता है। जो चैत्य यादगीरी के लिये बनाये गये थे समय पाकर वे पूजे जाने लगे, धीरे २ उन स्थानोंमें देव कुलिकायें होने लगीं, उनमें चरण पादुकायें स्थापित होने लगीं और बादमें भक्तजनोंकी हौंशसे-भक्तिआवेशसे उन्हीं स्थानोंमें बड़े २

देवालय एवं बड़ी २ प्रतिमायें भी विराजित होने लगीं । यह स्थिति इतने मात्रसे ही न अटकी, परन्तु अब तो गांवगांवमें और गांवमें भी मुहल्ले मुहल्लेमें वैसे अनेक देवालय बनगये हैं एवं बनते जारहे हैं । ऐसा होनेसे मेरी समझ के अनुसार – 'अतिपरिचयाद् अवज्ञा' हो रही है, क्योंकि अब तो जहाँपर देवालय बनाया जाता है, देवालय बनानेवाला भक्त कोई विरला ही वहाँके स्थानसौन्दर्य या वातावरण सौन्दर्यकी ओर ध्यान देता है, इस बातकी तरफ लक्ष्य ही नहीं दिया जाता । बड़े २ शहरोंमें मैंने ऐसे भी देवालय देखे हैं, जो घनी बसतिके बीच अशान्त प्रदेशमें उपस्थित हैं और जिनके सामने ही भक्तजनोंके संडास-टट्टियां एवं पेशाबघर सुशोभित होरहे हैं । बम्बईमें श्री गोड़ीपार्श्वनाथजी के मंदिरके पीछे बिलकुल लगते हुये हमारे गौतमावतारोंके ? संडास और पेशाबके स्थान मैंने स्वयं अपनी आंखोंसे देखे हैं । जिस जगहमें खड़ा होनेसे भी निरोगी मनुष्यका आरोग्य खराब होता हो वैसी जगहोंमें मंदिर बनवा कर जिनभक्ति करनेवालोंका यह साहस सर्वथा अवर्णनीय है । इस प्रकारकी जिनभक्ति तो इंद्रोंको

भी नसीव न हुई होगी !! जिन पाठकोंको चैत्योंके प्राचीन आकार देखने हों उन्हें बम्बई के समीपस्थ कार्ला तथा बोरीवलीकी गुफायें देख लेनेकी जरूरत है। ज्यों २ चैत्यके आकार वदलते गये त्यों २ उसके अर्थ भी वदलते गये। प्रारंभिक चैत्यशब्द अन्वर्थ था और आजकल का चैत्यशब्द रूढ़ है, क्योंकि उसे अपना मूल अर्थ छोड़कर लोगोंकी इच्छानुसार चलना पड़ता है। इसके सिवा साहित्यमें अन्य भी कई शब्द बढ़ गये हैं जो मूलमें अन्वर्थ थे और बादमें रूढ़ीके वश होगये हैं।

चैत्यशब्दका प्रारंभिक अर्थ चितापर चिना हुवा स्मारक चिन्ह था। जब उस जगहमें उस स्मारकको कायम रखनेके लिये या पहचान कराने के लिये पाषाणखण्ड या शिलालेख रक्खा जाता था तब चैत्यका अर्थ पाषाणखण्ड या शिलालेख भी हुवा। जब उस स्मारक चिन्हके बदले या उसके ऊपर किसी वृक्षको रोपित किया जाता उस वक्त चैत्यका अर्थ वृक्ष-चैत्यवृक्ष हुवा, जब उस स्मारक चिन्हके पास यज्ञादि पवित्र क्रियायें की जाती थीं उस समय चैत्यका अर्थ यज्ञस्थान भी हुवा है (देखो समितिवाला औ-

पपातिकसूत्रकी टीकामें चैत्यका वर्णन तथा अ-
मरकोशवाला चैत्यशब्द) जब उस स्मारक चि-
न्हको देवकुलिकाके आकारमें बनाया जाता था
उस वक्त चैत्यका अर्थ देवकुलिका (देहरी)
हुवा, जिस समय उस जगह चिनी हुई देवकु-
लिकामें पादुकायें पधराई जाने लगीं उस समय
चैत्यका अर्थ पादुका सहित देवली या मात्र पा-
दुका हुवा। जब उस जगह भव्यमंदिर चिना
जाने लगा और उसमें मूर्तियां पधराई जाने
लगीं तब चैत्यका अर्थ देवालय या मूर्ति
किया गया। अभीतक चैत्यशब्द अन्वर्थ रहा।
परन्तु जब चितादाहके सिवा स्थानान्तरोंमें
देवालय चिने गये या उनमें मूर्तियां स्थापित
की गईं तब वह रूढ़ हुवा, डिन्थ, के समान
संज्ञाशब्द बन गया और आरंभमें मात्र सादृश्य
से एवं आजकल केवल लौकिक संकेतसे चैत्य
अर्थ मंदिर या मूर्ति होगया है। इस प्रकार परि-
स्थितिके अनुसार चैत्यशब्द के अनेक अर्थ परि-
वर्तित हुए हैं, उन सबका मिलान करने पर
साधारणतः उसके सात अर्थ होते हैं और वे इस
प्रकार हैं।

१ चैत्य—चितापर चिना हुवा स्मारकचिन्ह,

चिताकी राख । २ चिताऊपरका पाषणखण्ड, ढ्ठा या शिला लेख। ३ चितापरका पीपल या तुलसी आदिका पवित्रवृत्त। (देखो, मेघदूत, पूर्व-मेघ श्लो० २३)। ४ चितापर चिने हुये स्मारकके पासका यज्ञस्थान वा होमकुण्ड । ५ चिताके ऊपर देहरीके आकारका चिनाव, स्तूप, साधारण देहरी । ६ चितापरकी पादुकावाली देहरी या चरणपादुका । ७ चितापरका देवालय या विशालकाय मूर्ति ।

इन सातोंमें चैत्यके पहले पाँच अर्थ उसकी व्युत्पत्तिको सुशोभित करते हैं और अन्तके दो रूढ़ीजन्य अर्थ चैत्यकी व्युत्पत्तिसे बड़ी दूर रहते हैं। अर्थात् वे लाक्षणिक और रूढ़ हैं एवं शब्दानुगामी न होनेके कारण वे अर्थ निरर्थक जैसे हैं। जहाँतक मैं समझता हूँ वहाँतक एक २ अर्थका सर्व व्यापी प्रचार होते हुये और एक २ अर्थका सर्व व्यापी विनाश होते हुये कमसे कम सौ २ या दो २ सौ वर्ष तो अवश्य बीते होंगे। चैत्य शब्दका प्रचलित देवालय या मूर्ति अर्थ छठा और सातवाँ होनेसे वह बिलकुल अन्तिम आधुनिक है यह बात हम ऊपर दिये हुये प्रमाणोंसे अच्छी तरह समझ सके हैं। इससे आ-

चार्य श्री १ हरिभद्रजीके उल्लेखसे या आचार्य श्रीहेमचंद्रजीके २ कोशके आधारसे चैत्यशब्दका

---

१ 'चेइयसद्दो रूढो 'जिणिंदपडिम' त्ति अत्थओ दिट्ठो' (संबोध प्रकरण, देवस्वरूप, श्लो ३२८ पृ० ६२) अर्थात् चैत्य शब्दका जिनेन्द्रप्रतिमा रुढ़ अर्थ है। हरिभद्रसूरिजीने अपने ललितविस्तरा नामक ग्रन्थमें (पृ० ७६-७७) चैत्यशब्दकी व्युत्पत्ति करते हुये बतलाया है कि-चित्तम्-अन्तःकरणम्, तस्य भावः कर्म वा (वर्णदृढादिलक्षणे ष्यञि कृते) चैत्यं भवति" परन्तु इस प्रकारकी व्युत्पत्ति शब्दशास्त्रकी दृष्टि से घट नहीं सकती, क्योंकि चैत्य शब्दमें डबल त्त संभवित नहीं होता (वे स्वय भी तो चैत्यं भवतिका उल्लेख करते हुये एक त वाला ही चैत्यशब्द लिखते हैं) और इस हरिभद्रीय व्युत्पत्तिके अनुसार तो दो त्त वाला अर्थात् चैत्त्य शब्द बनता है। यदि चैत्य शब्दको दो त्त वाला मान भी लिया जाय तो फिर हेमचन्द्रजी के 'त्योऽचैत्ये' ८-२-१३ सूत्रमें उसका वर्जन संभवित नहीं होता, क्योंकि वह सूत्र एक त वाले त्य का ही 'च करता है इस कारण। २ चैत्यं जिनौकः तद्बिम्बम् चैत्यके द्वित्तकार को च की प्राप्ति ही नहीं है, अतः हेम चन्द्रजी की साक्षीसे चित्त परसे चैत्य, की साधना योग्य नहीं है, तथा किसी कोशमें भी इस तरह की व्युत्पत्ति देखने में नही आती। फिर खूबी इस बात की है कि इस व्युत्पत्ति का अर्थ भी तो प्रचलित अर्थमें संघटित नहीं होता। कितनेक

अन्तिम अन्त नहीं आ सकता। वे तो अपने समयके प्रचलित अर्थको ही अपने ग्रन्थोंमें लिख सकते हैं। इससे मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि उनका बतलाया हुवा अर्थ असत्य है। मुझे तो अन्य अर्थोंके समान वह अर्थ भी मान्य है, परन्तु इस विषयमें मुझे इतना ही कहना है कि प्रचलित देवालय या मूर्ति यह कोई चैत्यशब्दका प्रधानार्थ या मूल प्राचीन अर्थ नहीं है, इतना ही नहीं बल्कि ये दोनों अर्थ बिलकुल पीछेके और रूढ़ीसे किये हुये हैं। सूत्रोंकी टीका करने वालोंने भी सूत्रोंमें आये हुये चैत्यशब्दकी व्युत्पत्ति (चितेर्भावः कर्मवा) तो यथार्थ बतलाई है, परन्तु जहाँपर 'अरिहंत चेइयाइं, या केवल 'चेइयाइं' आता है वहाँ उन्होंने उसकी व्युत्पत्ति

तो 'चित्तम् आह्लादयति तत् चैत्त्यं' १ इस तरह की व्यु-त्पत्ति करके व्युत्पत्तिके अनुकूल अर्थ लेते हैं, परन्तु चित्त शब्दसे चैत्य शब्द बन ही नहीं सकता यह बात तो अभी साबित हो चुकी है। श्री अभयदेवसूरिजी ने एवं जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति के टीकाकारने कितनीएक जगह (देखो-समिति. स्थानांगसूत्रकी टीका० पृ० २३२, और जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति की टीका० पृ० १४०-१४७) ऐसी व्युत्पत्ति करके शब्दशास्त्र की विराधना की है।

जन्य वास्तविक और प्रधान अर्थ न करके मात्र अपने समयकी लोकरूढीका अनुसरण किया हो ऐसा मालूम होता है। ऐसा होनेसे चैत्यके छठे एवं सातवें अर्थको बतला कर ही उन्होंने रास्ता पकड़ा है। उन्होंने चैत्यका अर्थ करते हुये बहुतसी जगह बतलाया है कि "संज्ञाशब्दत्वात् देवबिम्बम्, तदाश्रयत्वात् तद्गृहमपि चैत्यं, भगवती-सूत्र अजीम०पृ०५-रायपसेणीसूत्र अजीम०पृ० ४) अर्थात् चैत्यशब्द संज्ञाशब्द है इससे उसका अर्थ व्युत्पत्तिके अनुसार न करके रूढीके अनु-सार लेना चाहिये और वह देवबिम्ब या देव-गृह है। टीकाकारोंके इस उल्लेखसे पाठक स-मझ सकते हैं कि उनका किया हुआ अर्थ परं-परागत उनके समयका रूढ़ अर्थ है। इस तरह अर्थ करनेका प्रकार भी एक प्रकारका साहित्य विकार ही है और वर्तमान समयमें प्रचलित मूर्तिवादके नामपर चढ़ा हुवा कलह भी इस विकारका ही परिणाम हो यह स्पष्ट मालूम होता है। मेरी मान्यता है कि किसी भी टीका-कारको टीका करते समय मूलके आशयको मूलके समयके वातावरणको ही ध्यानमें लेकर स्पष्ट करना चाहिये। इस प्रकारकी टीका करने

वाला ही सच्चा टीकाकार हो सकता है, परन्तु मूलका अर्थ स्पष्ट करते वक्त मौलिक समयके वातावरणका खयाल न करके यदि परिस्थिति-का ही अनुसरण किया जाय तो वह मूलकी टीका नहीं किन्तु मूलका मूसल जैसा हो जाता है। मैंने सूत्रोंकी टीकाका अच्छी तरह अध्ययन किया है, परन्तु उसमें मुझे बहुतसी जगह मूलका मूसल किये सदृश प्रतीत होता है और इससे मुझे बड़ा दुःख प्राप्त हुवा है। यहाँपर इस विषयमें विशेष लिखना अप्रस्तुत है, तथापि समय आनेपर 'सूत्रऔर उनकी टीका' इस सम्बन्धमें मैं ब्योरेवार उल्लेख करनेके अपने कर्तव्य को कदापि न भूलूंगा। फिर भी ऊपर बतलाये हुये श्रीशीलांगसूरिद्वारा किये हुये आचारांगसूत्रके कितनेक पाठोंके उलट पलट अर्थोंपरसे और इस चैत्य शब्दके अर्थसे आप स्वयं देख सके होंगे कि टीकाकारोंने अर्थ करनेमें अपने समयको ही सामने रख कर कितना अधिक जोखम उठाया है। मैं मानता हूँ कि यदि टीकाकार महाशयोंने मूलका अर्थ मूलके समयानुसार ही किया होता तो जैनशासन में जो आजकल मतमान्तर देख पड़ते हैं वे बहुत कम

प्रमाणमें होते और धर्मके नामसे ऐसा अमावस्याका अन्धकार कम व्याप्त होता। क्लेशमें सर्वत्र आग्रह ही राजा होता है और इसी कारण आज साहित्यके मूलसत्य धूलमें मिल गये हैं, मिलते जारहे हैं। परन्तु किसकी-ताकत है कि साहित्य विकारको रोक कर मूलको वास्तविक रूपमें कायम रख सके? हा !!! मैं भूलता हूँ कि मूल तो सदा धूलमें ही रहता है, अतः वह बिलकुल गल सड़जाने के ही योग्य है और उसमेंसे प्रकृतिदेवी सुन्दर वृक्षको जन्म देती है, वैसे ही हमारे सद्भाग्यसे किसी सुन्दर वृक्षकी उत्पत्तिके लिये ही हमारे जीते जागते मूल-जड़ें सड़ रही हों तो यह संभवित और सुघटित है।

इस दूसरे मुद्देकी चर्चासे आपके ध्यानमें यह बात आगई होगी कि चैत्य और उसके प्राचीन एवं प्रधानार्थका स्वरूप क्या है? उसमें परिस्थितिके अनुसार जो २ परिवर्तन हुए हैं और अन्तमें उससे जो विकार पैदा हुवा है वह भी आपकी समझमें आगया होगा। इतनेसे भी यदि आप साहित्यविकारजन्य अपने मूर्ति-पूजाके अनादि वादके एकान्तको कुछ ढीला करेंगे

और भगवान महावीरके अनेकान्त मार्गपर दृष्टि रख कर अमूर्तिपूजकोंके साथ प्रेमका वर्ताव करेंगे तो मैं अपने इस निबन्धके लिये किये हुये जागरणोंको भी सफल गिननेकी उचित कामना करूंगा।

देवद्रव्यवाद ।
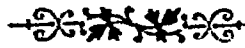
मेरा तीसरा मुद्दा देवद्रव्यवाद नामक है, अब मैं उसका ब्योरेवार प्रारंभ करता हूँ। चैत्य वादके साथ यह विषय घनिष्ट सम्बन्ध रखता है इसी कारण मैंने चैत्यवाद पर प्रथम चर्चा की है और उसके बाद तुरन्त ही इसपर विचार करना उचित समझा है। जो यह मानते हैं कि जहाँ मूर्ति हो वहाँ देवद्रव्य भी अवश्य होना चाहिये, मेरी मान्यतासे उनका यह मत अयुक्त है, तथापि कुछ देरके लिये हम उसे मान भी लें तो जिन कारणोंसे देवद्रव्यकी अविहितता और अर्वाचीन कल्पना साबित हो सकती है वे कारण ये हैं-उपरोक्त चैत्यवादकी चर्चासे यह बात तो आप भली प्रकार जान सके हैं कि मूर्तिवाद चैत्यवादके बादका है याने उसे चैत्यवाद जितना प्राचीन माननेके लिये हमारे पास एक भी ऐसा मजबूत प्रमाण नहीं है जो शास्त्रीय सूत्र-विधि निष्पन्न या एतिहासिक हो। यों तो हम और हमारे कुलाचार्य भी मूर्तिवादको अनादि का ठहराने तथा महावीर भाषित बतलाने का

बिगुल बजाने के समान बातें किया करते हैं, परन्तु जब उन बातोंको सिद्ध करनेके लिये कोई एतिहासिक प्रमाण या अंगसूत्रका विधिवाक्य मांगा जाता है तब हम बगलें झांकने लगते हैं और अपनी प्रवाहवाही परम्पराकी ढालको आगे कर अपने बचावके लिये बुजुर्गोंको सामने रखते हैं। मैंने बहुत ही कोशिश की तथापि परम्परा और बाबा वाक्यं प्रमाणं, के सिवा मूर्तिवादको स्थापित करनेके सम्बन्धमें मुझे एक भी प्रमाण या विधान नहीं मिला। वर्तमान समयमें मूर्तिपूजाके समर्थनमें कितनी एक चारणमुनि, द्रौपदी, सूर्याभदेव और विजय देवकी कथायें भी आगे लाई जाती हैं, किन्तु पाठकोंको यह बात खास ध्यानमें रखनी चाहि-ये कि विधिग्रन्थोंमें बतलाया जानेवाला विधि, आचारग्रन्थोंमें बतलाया जानेवाला आचारवि-धान खास शब्दोंमें ही बतलाया जाता है, परन्तु किसीकी कथाओंमेंसे या किसीका आधार ले-कर अमुक २ विधान या आचार पैदा नहीं कि-या जाता।

एक कथामें उसके नायकने जो अमुक प्रकारका आचरण किया हो वह सबके लिये

विधेय या सिद्धान्तरूप नहीं हो सकता। उन लब्धिधारी मुनियोंने या अन्य किसी पात्रोंने चैत्योंको वन्दन किया वा जिनघरमें जाकर पूजा की इससे हम इस प्रकारका सर्वसाधारण सिद्धान्त घड़लें कि उस समयके समस्त मनुष्य उस तरहका आचरण करते थे, यह सर्वथा असंगत है। थोड़ेसे व्यक्तियोंका आचार किसी प्रकारके स्पष्ट विधान विना सर्वसाधारण का आचार नहीं हो सकता। यदि व्यक्तियोंके आचरण परसे ही आचारोंके विधानकी कल्पना की जाती हो तो फिर आचारके या विधिविधानके स्वतंत्र ग्रन्थ रचनेकी आवश्यकता ही क्या है? कथानुयोगसे ही सब विधिविधानोंका कार्य चल जाता हो तो चरणकरणानुयोग की अधिकता करना व्यर्थ है और भले या बुरे आचरण करनेवालोंकी कथापरसे ही यदि उन आचारों की नियमबद्ध संगठना की जाती हो तो नीतिग्रन्थों या कायदेके ग्रन्थोंकी आवश्यकता ही क्यों पड़े? जब आचारके ग्रन्थ जुदे ही रचे गये हैं और उनमें प्रत्येक छोटे बड़े आचारोंका विधान किया गया है तथापि उनमें जिस विधानकी गंध तक नहीं मालूम देती हो उस वि-

धानके समर्थनके लिये हम कथाओंका आश्रय लें या किसीके उदाहरण दें तो यह तमस्तरण नहीं तो और क्या है ? मैं यह बात हिम्मत पूर्वक कह सकता हूँ कि मैंने मुनियों या श्रावकों के लिये देवदर्शन या देवपूजनका विधान किसी भी अंगसूत्र में नहीं देखा, इतना ही नहीं बल्कि भगवती आदि सूत्रोंमें कईएक श्रावकोंकी कथायें आती हैं, उनमें उनकी चर्याका भी उल्लेख है, परन्तु उसमें एक भी शब्द ऐसा मालूम नहीं होता कि जिसके आधारसे हम अपनी उपस्थित की हुई देवपूजन और तदाश्रित देवद्रव्यकी मान्यताको घड़ीभरके लिये भी टिका सकें।

मैं अपने समाजके धुरन्धर कुलगुरुओंसे नम्रता पूर्वक यह प्रार्थना करता हूँ कि यदि वे मुझे इस विषयका एक भी प्रमाण या प्राचीन विधान विधिवाक्य बतलायेंगे तो मैं उनका विशेष ऋणी होऊंगा। कदाचित् इससे कोई बन्धु यह समझनेकी भूल न कर बैठे कि लेखक मूर्तिवादका विरोधी है। मैं प्रथम इस बातका खुलासा कर चुका हूँ और फिर भी कहे देता हूँ कि मैं इस बातका विरोधी नहीं हूँ, परन्तु जहाँ तक मैंने गवेषणा की है इस विषयमें सत्य हकी-

कत आपके सामने रखना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। इस विषयको आवश्यकता के प्रमाणमें मैं उपयोगी समझता हूँ, और उतने अंशमें मैं इसका विधायक भी हूँ, एवं कामचारी तथा सत्संग, शास्त्राध्ययन, तप, शील आदिके समान तरतमतासे मूर्तिवादमें भी आत्मविकाश की निमित्तता देख रहा हूँ, और मानता हूँ, तथा दूसरोंको बतला भी रहा हूँ। वर्तमान उपदेशकों में और मुझमें मात्र इतना ही फर्क है कि वे इस वादका एकान्तपूर्वक विधान करते हैं और उस विधानको पुष्ट करनेके लिये उसे भगवान वर्धमानके नाम या उनके अंग प्रवचनके नामपर चढ़ाते हैं एवं तदर्थ ऐसी ही कितनीएक कथाओं का आलम्बन लेते हैं, परन्तु मैं इस वादके विषयमें स्पष्ट शब्दोंमें यह कहता हूँ कि भले ही यह वाद भगवान वर्धमानका कथन किया न हो, भले ही उसके सम्बन्धमें विधिवाक्य अंग सूत्रोंमें न मिल सकता हो तथापि वह लोकके प्रवाहवाही विभागको प्रारंभमें आत्माकी मूल स्थितिका भान करानेके लिये [१] दर्पणके समान

[१] "जम्हा जिणाण पडिमा अप्प परिणाम दंसण-निमित्तं आयंसमंडलाभा सुहाऽसुहज्झाणदिट्ठीए"—
(संबोधप्रकरण-श्लो० ४० पृ० २)

है, अतः उसका मर्यादित सेवन उनके लिये अत्यु-पयोगी है। परन्तु उसका सेवन करने वालेको यह बात खास ध्यानमें रखनी चाहिये कि वह सेवन अफीमके आदी जैसा न होना चाहिये। उस सेवनसे कालक्रमेण-धीरे २ सेवकोंमें पवित्र आचार, पवित्र विचार, पवित्र जीवन, विशुद्ध नीति और अखण्ड प्रामाणिकता जैसे मनुष्यता को शोभित करनेवाले सद्गुण तो अवश्य ही प्रगट होने चाहियें। कदाचित् हम अपने अशुद्ध संस्कारोंके भीषण दबावसे दबे हुये हों तथापि इस वादके विवेकपूर्वक आश्रयसे मेरी मान्यतानुसार चाहे जैसा अशुद्ध माना जाता हुवा मनुष्य भी यदा कदापि विशुद्ध हुये विना नहीं रह सकता। महर्षि देवचंद्रजीके शब्दों में कहूँ तो—

"नामे हो प्रभु, नामे अद्भुत रंग,
ठवणा हो प्रभु, ठवणा दीठे उल्लसे जी।
गुण आस्वाद हो प्रभु, गुण आस्वाद अभंग,
तन्मय हो प्रभु, तन्मयताए जे धसे जी" ॥६॥

परन्तु यदि हम वैसा न करें और जैसे एक मशीन क्रिया करती रहती है त्यों प्रत्येक क्रिया

करते रहें तब फिर मूर्तिवाद तो क्या साक्षात्
भगवान् महावीर भी हमारा कल्याण नहीं कर
सकते। महाशयो! यहाँपर मैं क्षन्तव्य हूँ। कोई
पाठक महाशय मेरे विषयमें गैर समझ न करलें
तदर्थ मुझे विषयान्तर होकर भी मूर्तिवादके
सम्बन्धमें अपना संक्षिप्त अभिप्राय बतलाना
पड़ा है। इस विषयमें मैं प्रसंगवश अपने विशे-
ष विचारोंको भी आपके सामने रखनेकी काम-
ना करके पुनः प्रस्तुत विषयपर आता हूँ। ऊप-
र कथन किये मुजब यदि मूर्तिवादके साथ
सम्बन्ध रखनेवाला कोई पुरातन ऐतिहासिक
प्रमाण या अंगसूत्रका विधिवाक्य नहीं मिल
सकता तो उसे अवलम्ब करनेवाले देवद्रव्यका
साधक उल्लेख तो मिले ही कहाँसे ? देवद्रव्य-
को भगवान महावीर भाषित या उसे अंगवि-
हित रूपसे बतलाने वालेको सबसे प्रथम मूर्ति-
वादकी श्रीवर्धमान-भाषितता और अंगविहित-
ता सिद्ध करनी चाहिये। ऐसा किये विना देव-
द्रव्य अनादिका है देवद्रव्य शास्त्रमें लिखा हुवा है
और अमुक आचार्य या पन्यास देवद्रव्यको
आगमोक्त बतला रहे हैं, यह सब कुछ जंगलमें
रुदन करनेके समान है। मैं यहाँपर पुनः इस

को स्पष्ट किये देता हूँ कि वर्तमान विद्यमान अंगसूत्रोंमें देवद्रव्य शब्द या उसके विपयका एक भी उल्लेख नहीं मिलता, उसका विधान नहीं मिलता, एवं अंगसूत्रोंमें दी हुई कथाओं तकमें भी उसका कहीं उल्लेख नहीं मिल सकता। आप यह न समझें कि सूत्रोंमें उसका उल्लेख करनेका प्रसंग ही नहीं आया होगा, यह बात नहीं है। सूत्रोंमें बहुत जगह पुण्य-बन्ध और पापबन्धसे लगती तथा देवगति एवं नरकगतिके कारणोंसे लगती अनेक कथायें आई हैं उनमें कहींपर भी पिछले साहित्यके समान-१ 'वुड्ढंतो जिणदव्वं तित्थयत्तं लहइ जीवो' "२ रक्खंतो जिणदव्वं परित्त-संसारिओ भणिओ" "३ भक्खंतो जिणदव्वं अणंतसंसारिओ भणिओ" "४ जिणप्रणमुविक्खमाणो दुल्लहवोहिं कुणइ जीवो" "५ दोहंतो जिणदव्वं दोहिच्चं दुग्गयं लहइ" ऐसा एक भी उल्लेख

---

१ जिनद्रव्यको बढ़ाता हुया प्राणी तीर्थंकरत्व प्राप्त करता है। २ जिनद्रव्यकी हिफाजत करता हुवा जीव अल्पसंसारी होता है। ३ जिनद्रव्यको खाता हुवा जीव अनन्त संसारी होता है। ४ जिनधनकी उपेक्षा करता हुवा प्राणी दुर्लभ बोधी होता है। ५ जिनद्रव्यका द्रोह करनेवाला जीव दुर्गति प्राप्त करता है। (संबोधप्रकरण)

मुझे नहीं मिलसका, इसी कारण वर्तमान आचार्यों और धनाढ्योंके अति प्रिय देवद्रव्य सिद्धान्तके लिये मुझे उपरोक्त प्रामाणिक अभिप्राय बतलाना पड़ा है।

जो बात अंगसूत्रोंके मूल पाठोंमें नहीं है वह अंगोंके उपांगों, निर्युक्तियों, भाष्यों, चूर्णियों, अवचूर्णियों और टीकाओंमें कहांसे हो सकती है? उपांग, निर्युक्तियां, भाष्य, चूर्णियां अवचूर्णियां और टीकायें इसी लिये लिखी जाती हैं कि किसी भी तरह मूलका अर्थ स्पष्ट हो। परन्तु मूलमें रही हुई किसी तरहकी अपूर्णताको पूर्ण करनेके लिये मूलपर भाष्य चूर्णियां आदि नहीं रची जातीं। मेरी मान्यतानुसार मूलके व्याख्यानरूप लिखे हुये ग्रन्थोंमें जिसकी गन्ध तक नहीं वैसा देवद्रव्य शब्द या उससे लगती हुई बात किसी भी प्रकार संभवित नहीं हो सकती। तथापि यदि उन ग्रन्थकारोंने अपने २ वातावरण और परिस्थितिका अनुसरण करके मूलसे लगते हुये उन ग्रन्थोंमें कहींपर यह निर्मूल उल्लेख किया भी हो तो चैत्य शब्दके जिनगृह और जिनबिम्ब अर्थके समान उसकी प्राचीनता या विधेयता सिद्ध नहीं हो सकती, परन्तु वह उल्लेख परिस्थि-

तिजन्य होनेवाले कितनेएक प्रक्षेपोंमें से एक प्रक्षेप गिना जा सकता है । मैं तो यह भी मानता हूँ कि श्रमण ग्रन्थकार जो पांच महाव्रत के पालक हैं, सर्वथा हिंसा नहीं करते, न कराते और उसमें सम्मति भी नहीं देते, जिनके लिये किसी प्रकारका द्रव्यस्तव विधेयरूप नहीं हो सकता, वे हिंसामूलक इस मूर्तिवादके विधानका और तदवलम्बी देवद्रव्यके विधानका उल्लेख किस तरह कर सकते हैं ? श्री हरिभद्रसूरिजी के बहुतसे ग्रन्थोंमें इस मूर्तिवादके विधानसे लगता और देवद्रव्यकी वृद्धिसे लगता हुआ उपदेश दिया गया है, तदुपरान्त उन्होंने देवद्रव्यके भक्षक, देवद्रव्यके उपेक्षक और जिनाज्ञा विना अनुचित रीतिसे देवद्रव्यकी वृद्धि कारकको संसार समुद्रमें डूबता हुवा भी बतलाया है । श्रीहरिभद्रसूरिका समय विक्रमकी आठवीं शताब्दी स्थिर किया गया है और हमारे सूत्र ग्रन्थोंके अन्तिम संस्करणका समय जो देवार्धि-गणीजी द्वारा वलभीपुरमें कियां गया था, महावीरनिर्वाणसे ९८० याने विक्रमकी ५१० शताब्दीमें शास्त्रनिश्चित है, और महावीर निर्वाणसे ८८२ याने विक्रम ४१२ वें वर्षमें निर्ग्रन्थों

के चैत्यवास प्रारंभ करनेकी बात पहिले बतला.ई जाचुकी है। तब इस ४१२-५१० और विक्रमकी आठवीं शताब्दी इस एक शताब्दी और दो तीन शताब्दीके मध्यके समयमें ऐसी कोई परिस्थिति उपस्थित होगई होगी कि जिस कारण जिस बातको ताजे ही संस्कारित हुये सूत्रग्रन्थोंमें न देखनेपर भी श्रीहरिभद्रसूरिजीको अपने बहुत से ग्रन्थोंमें लिखना पड़ा हो और उसे विहित भी करना पड़ा हो। श्री हरिभद्रसूरिके बादके जिन २ ग्रन्थोंमें मूर्तिवाद और देवद्रव्यकी चर्चा की गई है एवं विहितता बतलाई गई है उन सब के मूल हरिभद्रसूरि ही हैं यह मेरी मान्यता है। परन्तु हरिभद्रसूरिके ग्रन्थोंमें यह बात आई कहाँ से यह एक प्रश्न विचारने योग्य है। अर्वाचीन-आचार्योंको मैं जैसे मताग्रही कह कर संबोधित करता हूँ वैसे इस महापुरुषके लिये नहीं कहा जा सकता। उनके ग्रन्थोंमें जो मध्यस्थता, गम्भीरता और सत्यप्रियता देखी गई है वह लेखन-शैली उनके बादके ग्रन्थोंमें मुझे क्वचित् ही देख पड़ती है। अब हम इस प्रस्तुत विवादका अन्त तभी ला सकते हैं जब श्रीहरिभद्रजीके ग्रन्थोंमें आये हुये मूर्तिवाद और देवद्रव्य सम्बन्धि

चर्चाकी जड़को ढूँढ निकालें। यद्यपि यह एक ऐतिहासिक प्रश्न बड़ा ही जटिलसा प्रतीत होता है, तथापि इसे हमइस प्रकार सुलझा सकते हैं-आचारांगसूत्रमें आई हुई भगवान श्रीवर्धमानकी चर्चा से मालूम होता है कि उनका त्याग विशेष कठिन था, बल्कि और भी कहें तो उस तरहके त्यागको आचारमें लानेके लिये मात्र वैसे ही समर्थ पुरुषों का सामर्थ्य होता है और वैसे वीर विरले ही होते हैं। जंबूस्वामीके बाद जिनकल्प विच्छेद होनेकी जो दन्तकथा प्रचलित है, उसीसे भगवान वर्धमानके त्यागकी कठिनाई स्पष्ट होजाती है। महावीर निर्वाणके बाद जम्बूस्वामी तकके समयमें याने महावीरनिर्वाणकी प्रथम शताब्दी में महात्मा बुद्धके मध्यममार्गने काफी लोक प्रियता प्राप्त करली थी। उनके मार्गका यह उद्देश था कि शरीरको विशेष न सताकर ऐसी प्रवृति करनेकी आवश्यकता है कि जिससे मन स्थितप्रज्ञ रह सके और लोकोपकार भी हो सके। महात्मा वर्धमान स्वयं कायदण्डवादी थे और महात्मा बुद्ध मनोदण्डवादी थे। वह मध्यम मार्ग बढ़ते २ इतना अधिक बढ़ गया कि सम्राट अशोकके समयमें वह प्रायः सर्वव्यापी हो चुका

था। महावीर निर्वाणसे दूसरी और तीसरी शताब्दीके बीचका समय मध्यममार्गके लिये विशेष अनुकूल था। वह समय वही था जबकि भारतमें सम्राट अशोकका धर्मराज्य प्रवर्तता था। उस समय संसारकी चौखण्ड पृथवी पर चारों ओर बौद्धमठोंकी स्थापना की गई थी, जिनमें रहनेवाले बौद्धभिक्षु शक्य लोक सेवा करनेके लिये सदैव तत्पर रहते थे और सम्राट अशोक एवं उनकी प्रजा उन्हें सेवा करनेकी धनादि साधन सामग्री जुटाती थी। वे भिक्षु बीमारोंको औषाधि देते थे, उनकी सेवा शुश्रुषा करते थे, दीन दुखियोंकी सहाय करते थे, दर्दी पशुओं एवं पक्षियों तककी चिकित्सा करते थे। विद्यार्थियोंको विद्यादान करते थे, आरोग्य समितिके कार्यमें भी सहायता करनेसे न चूकते थे, तथा जख्मी हुये डाकुओं तककी सेवाशुश्रुषा करके उन्हें भी परमदयालू बनाते थे। (देखो श्रमण-नारद) इस तरह वे बौद्धभिक्षु हरएक प्रकारसे लोगोंकी योग्य व्यवहारिक सेवामें ही अपना जीवन व्यतीत करते थे और इसके द्वारा किसी तरहकी आना कानी किये बिना ही वे बौद्ध प्रवचनको सर्वव्यापी बना रहे थे। इस प्रकार

उस मध्यममार्ग की परिस्थिति जितनी लोकोप योगी थी उतनी ही प्रजासेवक भिक्षुओंके लिये सरल और सुन्दर थी। मेरी मान्यतानुसार उस समयके श्रीवर्धमानके कठिन त्याग मार्गसे खिन्न हुये जैनभिक्षुओं पर बौद्धोंके इस सरल और लोकोपयोगी मध्यम मार्गका असर होना सहज बात है। जंबूस्वामीके निर्वाणबाद उन जैनभिक्षुओंमें जिनकल्पके सम्बन्धमें जो खल भलाहट मचा था उसे शान्त करनेका यह एक ही उपाय था कि वे अपनेसे दुस्साध्य कठिन त्यागके मार्गको बदल कर इस मध्यम मार्ग जैसे सरल और उपयोगी मार्गका आश्रय लेके अपने आत्मकल्याण और लोककल्याणकी भी साधना करें। उस समय जो भिक्षु वस्त्र पात्रके सक्त विरोधी थे और श्रीवर्धमानके कठिन त्याग मार्गके अनुयायी थे उनपर कदाचित् मध्यम मार्गका असर न हो सका हो, परन्तु जो मुनि वस्त्रपात्रवादको भी मानते थे और स्वकल्याणके आकांक्षी थे उन्हें यह मध्यममार्ग इष्ट हो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यह संभव है कि वे किसी भी तरह श्रीवर्धमानके प्रति अपनी श्रद्धा भक्तिको कम करना न चाहते थे,

इससे बुद्धके मध्यम मार्गका अनुसरण करते हुये अपना वर्धमान-अनुयायित्व न खोना पड़े इस भयसे उन्होंने अपने पूर्वजोंका मार्ग उज्वल करने के लिये एक ऐसा मध्यम मार्गके समान सरल और उपयोगी मार्ग निकालना पसंद किया था कि जिसके द्वारा वे बौद्ध भिक्षुओंके समान लोक सेवा कर सकें और अपना भी श्रेय साध सकें। इस मध्यम मार्गका अनुसरण करनेवाले जैनमुनियोंने अपने उस मार्गका कोई खास नाम रक्खा हो यह जाननेमें नहीं आया और उस मार्गका जुदा नाम होना संभवित भी नहीं होता, क्योंकि उन जैनमुनियोंने वह तो मात्र श्रीवर्धमानके कठिन त्याग आचारोंको कुछ नरम बनाया था, मठवास या वसतिवासको अंगीकार किया था, वस्त्रपात्रकी उपयोगिता तो उन्हें सम्मत ही थी। उपदेश द्वारा, ग्रन्थरचना द्वारा, मन्त्रतंत्र द्वारा और निमित्त ज्ञान द्वारा वे निरीहभावसे लोगोंकी निर्दोष सेवा करनेके इच्छुक थे और वैसा करके बुद्धमार्गके समान श्री वर्धमानके मार्गको फैलानेकी उनकी उच्च कामना थी। इस सरल मार्गमें तत्ववादसे लगता हुवा कोई खास भेद न था परन्तु मात्र आचारों

की ही सरलता थी, इसीसे कुछ विशेषता रहित उस सरलमार्गको जुदे नामसे उस समयके संक्षुभित भिक्षुसंघमें फूट डालना उन्हें अनुचित प्रतीत हुआ हो और इसी कारण उन्होंने उस मार्गको किसी जुदे नामसे न प्रगट किया हो यह संभव है। मैं यह बात भी मानता हूँ कि ज्यों साधारणतया हुआ करता है त्यों इस मार्गमें भी कालक्रमेण पक्षापक्ष होता रहा होगा, मताग्रह प्रचलित रहा होगा और हठवाद भी बढ़ता रहा होगा, एवं उसके अन्तिम परिणाममें श्वेताम्बर दिगम्बरके समान क्षुल्लक भेदके कारण इस निर्नाम मार्गको अन्य मार्गोंके सदृश सर्वथा जुदा होना पड़ा होगा। यदि हम यह बात मानें कि महावीर निर्वाणसे दूसरी शताब्दी में यह निर्नामा सरल मार्ग प्रचलित हुआ होगा और उसके बादकी पांचवीं छठी शताब्दी बीतने तक पक्षापक्षी, मताग्रह और हठवादका रसायन सेवन करके वह पुष्ट हुआ हो तथा अन्तमें महावीर निर्वाणसे ८८२ वर्षमें चैत्यवासके नाम से प्रगट हुआ हो तो यह भी विशेष संभव है। महावीर निर्वाणसे ८८२ वर्षमें प्रगट हुये चैत्यवासकी जड़ मुझे इस सरलमार्गमें ही भासित

होनेके कारण मैंने इस प्रकारका उल्लेख किया है।

किसी भी धार्मिक स्थितिका प्रारंभ बहुत ही सादा होता है और कल्याणकारी एवं लोक हितकारी होता है, परन्तु जब उसमें आग्रह, अन्धता और अविवेकताका संमिश्रण होता है तब उसे एक जुदे पंथ या संप्रदायरूपमें गिनते हैं। जिस वक्त उसमें स्वाछंद्य, विलासिता और स्वार्थ की मात्रा अधिक प्रमाणमें बढ़ जाती है तब स्वयं ही उसका अन्तकाल आजाता है तथा उस एक ही मार्गकी अन्तकालकी स्थितिमें और प्रारंभिक स्थितिमें इतना अधिक अन्तर मालूम होता है कि जितना नर और खरमें होता है। श्रीहरि-भद्रसूरिजीने जिन मुनियोंका खेदजनक चित्र अपने ग्रन्थमें दिया है उस स्थितिको मैं इस सरल मार्गका अन्तिम एवं सर्वथा विकृत स्वरूप मानता हूँ। कहा जाता है महावीर निर्वाणसे दूसरी शताब्दीमें होनेवाले श्री भद्रबाहूस्वामीने मरीका उपद्रव शान्त करनेके लिये तथा संघमें शान्ति करनेके निमित्त उवसग्गहर, स्तोत्र बनाया था। महावीर निर्वाणसे पांचवीं शताब्दीमें होनेवाले विद्यासिद्ध श्रीखपुटाचार्यने अपनी विद्याके चम-त्कारसे बहुतसी जगह संघोपयोगी कार्य किये

थे। वीरनिर्वाणसे छठी शताब्दीमें होनेवाले श्री वज्रस्वामीने अपनी गगनगामिनी विद्यासे एक देशमेंसे दूसरे देशमें लेजाकर दुर्भिक्षके भीषण पंजेसे बचाकर जैन संघको सुरक्षित रक्खा था और वीरनिर्वाणसे ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के बीचमें होने वाले श्रीहरिभद्रसूरि बहुतसे दुःखित जनोंको भोजन देकर उनका पोषण करते थे, ये बातें त्यागमूर्ति श्रीवर्धमानके कठिन त्यागमार्गी मुनियोंके लिये घट नहीं सकतीं। परन्तु ऊपर बतलाये हुये मध्यममार्गके अवलम्बक भिक्षुओंके लिये ही घटती हैं। इस प्रकार सरल और लोकोपयोगी मध्यममार्गसे लगते हुये मेरे पूर्वोक्त उल्लेखको इन आचार्योंकी जीवनघटना पुष्ट करती है। यदि हम इसी बातको ध्यान में रखकर विशेष विचार करें तो हमें इस इतिहासमें ही मूर्तिवाद और देवद्रव्यवादकी जड़ मिल सकती है। मेरी इच्छा थी कि यहाँपर उस समयके अन्य भी अनेक आचार्योंके जीवन वृतान्त देकर उपरोक्त मन्तव्यको विशेष दृढ़ बनाऊँ किन्तु लाचार हूँ कि वैसा नहीं कर सकता, क्योंकि वीरनिर्वाणसे १००० तकके इतिहासका अधिक हिस्सा अभीतक विशेष अन्ध-

कारमें पड़ा है। उसमेंसे जो कुछ मिलता है उसमें कितनेएक नामोंकी और उनसे लगती उपयोगी दन्तकथावाली कुछ २ बातें उपलब्ध होती हैं जो परम्पराके आधारसे वर्तमान पट्टावालियोंमें उल्लिखित हैं। यह तो बुद्धसमयके श्रीवर्धमानके मार्गकी परिस्थितिसे और अपने इतिहासमें मिलनेवाले चैत्यवासके उल्लेखसे उस (चैत्यवास) की जड़को ढूँढ निकालनेका मेरा ऊपरी-बाह्यप्रयास मात्र है। इस विषयमें मैं दृढतापूर्वक इतना कह सकता हूँ और आगे कह भी चुका हूँ कि जिस मूर्तिवादका विधान और देवद्रव्यकी गन्ध अंगसूत्रग्रन्थोंमें नहीं मिलती उसका हरिभद्रसूरि समर्थन पूर्वक उल्लेख करते हैं इसका क्या कारण होना चाहिये? इस प्रश्नका उत्तर स्वयं ही एक ऐसी परम्परा को ढूँढ निकालता है कि जो मूर्तिवाद तथा देवद्रव्यको माननेवाली थी और जिसका शास्त्रविश्रुत चैत्यवासपरम्परा नाम था। इससे मूर्तिवाद और देवद्रव्यसे लगते हुये श्रीहरिभद्रसूरिके उल्लेखोंके मूलस्वरूपमें हमें भी उसी परम्परा को स्वीकारना है जिसे पहले शास्त्रविश्रुत परम्परा कही है। यह परम्परा कुछ दर्भांकूरके

समान वीरनिर्वाणसे ८८२ वर्षमें शीघ्र ही नहीं ऊग निकली होगी, परन्तु एक घटादार वृक्षके समान उसका धीरे २ विकाश भी हुवा होगा और अन्तमें उसमें विकार हुये बाद ही उसे नष्ट होना पड़ा होगा। एक आमके पेड़को पैदा होते, फलते, फूलते और अन्तमें कालके गालमें पड़ते तक भी अधिक समय व्यतीत होता है तो फिर एक बड़ी सम्प्रदाय-परम्पराको पैदा होते, प्रचलित होते, दृढ़ बनते और एक नवीन मार्गरूपसे चिरकालतक स्थित रह कर नष्ट होते हुये यदि पाँच छह शताब्दियां या इससे कुछ और भी न्यूनाधिक समय बीत जाय तो यह क्रमविकाशकी दृष्टिसे सर्वथा संभवित है। इसी प्रकार अन्य सम्प्रदायोंका प्रारम्भसे अन्ततक-का इतिहास पढ़ते हुये भी इतने ही समयकी प्रतीति होना शक्य मालूम होता है। इसी आधारसे मैंने ऊपर बतलाया है कि चैत्यवास का बीजारोपण बुद्धके मध्यम मार्गके आधार पर उसी समय हुवा है जबकि महावीर, सुधर्मा, या जम्बू जैसे कठिन त्यागके प्रेमियोंका अभाव था, उस समय जो कठिनत्यागके अनुयायी थे वे बहुत कम प्रमाणमें थे और जिनकी

संख्या अधिक थी उनका लक्ष्य बुद्धके मध्यम मार्ग जैसे सरलमार्गपर जम चुका था। अर्थात् वीरनिर्वाणकी दूसरी शताब्दीमें ही इस परम्पराकी खूब गहरी जड़ जम गई थी, जिसके द्वारा श्वेताम्बरता और दिगम्बरताके विषवृक्षकी भी पुष्टि हुई थी। अन्तमें जो वीरनिर्वाणके बाद ६ वीं शताब्दीमें अंकूर प्रगट हुवा वह भी ऐसी सड़ी हुई दशामें प्रगटा कि वीरनिर्वाणके बाद ११ वीं शताब्दीमें होनेवाले आचार्य श्री-हरिभद्रसूरिको अपने सम्प्रदायकी भी उस जड़पर तीक्ष्ण कुठार प्रहार करके अपने ग्रन्थोंमें उसे नष्ट करनेका प्रयास करना पड़ा था, यह आज हमारे सामने प्रत्यक्ष है। इस प्रकार श्री हरिभद्रसूरिने किया हुवा मूर्तिवाद और देव-द्रव्यका उल्लेख एवं इस परम्पराके सामने जो विरोध करनेका उल्लेख किया है ये तीनों ही मेरी इस क्रमिक विकासकी कल्पनाको मजबूत बनानेके लिये पर्याप्त हैं। अब मुझे यह बात यहाँ पर जरा विशेषरूपसे स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है कि चैत्यवासकी इस परम्पराके साथ मूर्ति-वाद और देवद्रव्यका किस तरह का सम्बन्ध है? यदि मैं यथार्थरूपसे इस प्रश्नका उत्तर दे सकूंगा

तो ही इस प्रस्तुत विषय पर यथार्थ रीत्या चर्चा-कर सकता हूँ। अभीतक ऐसा एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ जिससे यह प्रमाणित हो कि श्रीवर्धमानके समय मूर्तिवाद वर्तमानके समान एक मार्गस्वरूप प्रचलित हुवा, हो तथा वीरनिर्वाण से ६८० वर्षमें संकलित हुवा साहित्य भी इस विषयमें किसी प्रकारका विधायक प्रकाश नहीं डालता कि जो मूर्तिवादके साथ प्रधानतया विशेष सम्बन्ध रखता हो। इससे हम इतने सरल सत्यको तो अवश्य समझ सकते हैं कि वीरनिर्वाणसे ६८० वर्ष तकके या विक्रमसे ५१० वर्ष तक के समयमें एक प्रवाही मार्गरूपमें मूर्तिवादकी उत्कट गन्ध तक मालूम नहीं होती। तथापि मैं इस बातको मंजूर कर लेता हूँ कि लोकस्वभावके कारण वीरनिर्वाणके बाद ही कदाचित् कहीं पर उसका अंकूर अंकूरित भी हुवा हो। एक विद्वानने मूर्तिपूजाकी प्रबलताकी पाँचवीं या छठीशताब्दी लिखी है और उसका आरंभ बुद्धनिर्वाणके बाद साबित किया है। बुद्धकी विद्यमानतामें ही ज्ञात पुत्र श्रीवर्धमानका निर्वाण होनेसे हम यह कल्पना कर सकते हैं कि श्रीवर्धमानके निर्वाण बाद लगभग आधी शताब्दी बीत जानेपर

मध्यम मार्ग के संस्थापकके स्मरणचिन्हस्वरूप बुद्धके मंदिर और मूर्तियाँ बनीं हों। उस समय श्रीवर्धमानके भिक्षु सर्वथा निस्पृह, लोकैषणाकी उपेक्षा करनेवाले और कठिनत्यागी होनेके कारण वे बुद्धके मंदिरया मूर्तियाँ देखते ही ढीले बनजायँ ऐसे न थे, उन्हें ढीला होनेके लिये कुछ समय और निरंकुशताकी आवश्यकता थी। वीरनिर्वाणकी लगभग पौनी शताब्दी बीत चुकनेपर अर्थात् महावीरसे ६४ वें वर्षमें और जब उनके जंबूस्वामी जैसे बलिष्ठ सेनापतिका अभाव होचुका तब उन्होंने धीरे २ उस कठिन मार्गको छोड़कर अपने मनमाने सरल और उपयोगी मध्यम मार्गका आश्रय लेना आरंभ किया था। जो कठिन थे वे तो कठिन त्यागी ही रहे, परन्तु जो उस कठिनाईको सहन न कर सकते थे उन्होंने मध्यम मार्गको ही वीरभाषित मानकर आश्रित कर लिया। मध्यममार्गका प्रारंभ बहुत ही सुन्दर और उपयोगी था, उसमें वे लोगोंके लिये बौद्धभिक्षुओंके समान अपना विशेष समय व्यतीत करते थे और जहाँतक बनसके वहाँतक वे जैनभिक्षु निर्दोषतया लोकोपयोगी बने थे। मेरी धारणाके अनुसार जैनोंका यह मध्यम

मार्ग ज्यों ज्यों विशेष लोकोपयोगी बनता गया होगा त्यों त्यों उन्हें अपनी कितनीएक प्रवृत्तियोंमें भी परिवर्तन करना पड़ा होगा और कितनीएक ऐसी नवीन प्रवृत्तियाँ स्वीकारनी भी पड़ी होंगी जो परोक्ष रीतिसे या परम्परासे संयमकी बाधक होती हों। उन्होंने लोगोंके हितार्थ यह भी उपदेश किया होगा कि अपने सामने सत्पुरुषोंके स्मारकचिन्ह रखनेकी विशेष आवश्यकता है, जिसकी स्मृतिसे धीरे २ हमारा विकाश होना शक्य और सुलभ बन सके। इस प्रकारके उपदेशसे भगवान महावीरके स्मारक का प्रारंभ करना यह अहिंसाप्रधान संयमके दूसरे और तीसरे (कराना और करनेवालेका अनुमोदन करना) भांगेका बाधक गिना जाता है, तथापि उस बाधक प्रवृत्तिको लोकोपयोगी मानकर संयमकी वर्तमान परिस्थितिको देख कर उन्होंने निर्दोष समझा हो यह संभव है। इसी तरह उन्होंने दानशालायें, सत्रागार और पाठशालायें स्थापित करने कराने आदि लोकोपयोगी कार्योंमें हाथ लंबाया हो यह भी संगत है और उन सब कार्योंकी सुव्यवस्था करनेके लिये लोगोंकी ओरसे मुनि ही नियुक्त किये

गये हों तो इसमें भी कोई असंगति नहीं प्रतीत होती। उन समस्त कार्योंको सुचारु रूपसे संचालित रखनेके लिये एवं उन्हें सफल बनानेके लिये लोगोंकी तरफसे साधुओंको धनादि सामग्री का दान देना निश्चित ही है इसमें किसी तरह के संकल्प विकल्पको स्थान ही नहीं मिल सकता। वे भिक्षु तो आचारसे पवित्र और विचार से विशुद्ध थे। मात्र त्यागकी पराकाष्ठा ही उन्हें असह्य मालूम होती थी, इसी कारण वे जिस तरह लोकोपयोगी होकर श्रीवर्धमानके मार्गके प्रचारक हो सकें और अपने पराये कल्याणके साधक भी बन सकें इस प्रकारके इस आपवादिक मार्गका अनुसरण करते थे। लोग अपनी या उस समयके अपने समाजकी उन्नतिके लिये उन भिक्षुओंको जो धनादि सामग्री प्रदान करते थे उसका नाम मंगलद्रव्य, शाश्वतद्रव्य या निधिद्रव्य रक्खा गया था। यहाँपर मुझे प्रसंगोपात यह बात भी बतलादेनेकी आवश्यकता है कि जो निर्ग्रन्थ धनका स्पर्शतक भी न करते थे, जो सह्य त्यागके एवं आत्मकल्याणके अभिलाषी थे और जो भिक्षु अपनी संयम पद्धतिको लोक हितके

रूपमें परिवर्तित कर भगवान महावीरका मार्ग दिपानेमें आतुर थे वे मध्यम मार्गपर आरूढ़ होते ही लोकोपयोगी सर्व प्रकारके आ-रंभोंको भी करने लग पड़े थे यह समझना भूल होगा। यह एक नैसर्गिक नियम है कि ज्यों मनुष्य को ऊपर चढ़ते हुये देर लगती है त्यों उतरते हुये भी समय लगता है, इस नियमके अनुसार हमारे उन निर्ग्रन्थ महानुभावोंने चाहे वैसे सरल मार्गको अंगीकार किया था तथापि उपदेशतरंगिणीके इस श्लोकमें वर्णित उनका आचार लगभग अबाधित था—

"१ भुञ्जीमही वयं भैक्षं, शीर्णं वासो वसीमहि। शयीमहि महीपीठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः" ॥१४५॥ पृ०४६

"२ पद्भ्यामध्वनि संचरेय विरसं भुञ्जीय भैक्षं सकृज्जीर्णं सिग् निवसीय भूमिवलये रात्रौ शयीय क्षणम्।
निस्सङ्गत्वमधिश्रयेय समतामुल्लासयेयाऽनिशं।
ज्योतिस्तत् परमं दधीय हृदये कुर्वीय किं भूभुजा॥१६८॥

"१भिक्षा मांगकर भोजन करना, शीर्ण–फटे टूटे वस्त्र पहनना, जमीनपर सोना। २ पैदल प्रवास करना, एक ही दफा निरस आहार करना, पुराने वस्त्र पहनना रातको जमीन पर क्षणभर सोना निःसंग रहना, सर्वत्र सम रहना, परमज्योतिका

३ पद्भ्यां गलदुपानद्भ्यां संचरन्तेऽत्र ये दिवा। चारित्रिणस्त एव स्युर्न परे यानयायिनः ॥ १६९ ॥ ४ केशोत्तारणमल्पमल्पमशनं निर्व्यञ्जनं भोजनं। निद्रावर्जनमह्नि मज्जनविधित्यागश्च भोगश्च न ॥ पानं संस्कृतपाथसामविरतं येषां किलेत्थं क्रिया तेषां कर्ममयामयः स्फुटमयं स्पष्टोऽपिहि च्लीयते ॥ १७० ॥ (पृष्ठ ५७)

जब इस मध्यम मार्गके प्रारंभका समय होगा उस वक्त वे निर्ग्रन्थ उपदेशद्वारा एवं ग्रन्थरचनाद्वारा लोकोपकार करते होंगे, प्रारंभमें तो शक्य निर्दोषता रखकर ही इस मार्गको विजयी बनानेका उनका ध्येय होगा, परन्तु ज्यों २ समय बीतता गया त्यों २ उन्होंने कितनेएक अपवादोंको स्वीकार करकेभी लोक श्रेयका कार्य किया होगा। इसी तरह वे धीरे २ बौद्धोंके मठवासके समीपमें आये होंगे। जो मैंने अभी धनादि सामग्रीके सम्बन्धमें उल्लेख किया है वह कोई मेरा कल्पित विचार नहीं है, किन्तु उस समय मठवासके निकट आते हुये जैना-

---

ध्यान करना। ३ पैरोंमें जूता न पहनना, यानयायी न होना। ४ केशापनयन करना, कम खाना, शाकादिरहित भोजन करना, दिनमें न सोना, स्नान और भोगका त्याग करना तथा संस्कारित पानी पीना।"

चार्यौंको जैनराजा द्वारा धन दान दिया जानेके और उस समयकी जैनप्रजा द्वारा सामाजिक शुभ कार्यके लिये मुनियोंको धन देनेके अनेक उल्लेख मिलते हैं। १ आचार्य श्रीसिद्धसेनसूरि को विक्रमादित्य एक करोड़ रुपये देने लगा था और वे रुपये विक्रमके वहीखातेमें श्रीसिद्ध-सेनके नाम लिखे भी गये थे। परन्तु अकिंचन श्रीसिद्धसेनने उन्हें लेनेसे अरुचि प्रगट की थी और उस द्रव्यका विक्रमादित्यको यथारुचि उपयोग करनेको कह दिया था, इससे विक्रमा-दित्यने श्रीसिद्धसेनको अर्पण किया हुआ वह द्रव्य दुखी साधर्मिक और चैत्योंके उद्धारमें खर्च

१ श्रीसिद्धसेनसूरिश्चान्यदा वाह्यभुवि व्रजन्। दृष्टः श्रीविक्रमार्केण राज्ञा राजाध्वगेन सः ॥ ६१ ॥ तस्य दक्षतया तुष्टः प्रीतिदाने ददौ नृपः। कोटिं हाट कटङ्कानां लेखकं पत्रकेऽलिखत् ॥ ६२ ॥ तद्यथा—धर्मलाभ इति प्रोक्ते दूरादुद्धृतपाणये। सूरये सिद्धसेनाय ददौ कोटिं नराधिपः ॥ ६४ ॥ उवाच सिद्धो नोऽस्माकं यथा-रुचि तथा कुरु ॥ ६५ ॥ तेन द्रव्येण चक्रेऽसौ साधारण समुद्रकम्। दुःस्थसाधर्मिकस्तोम-चैत्योद्धारादिहेतवे ॥ ६६ ॥ (प्रभावकच० पृ० ६५)

किया था। २ आचार्य जीवसूरिको लल्ल नामक एक जैनगृहस्थने पचास हजार रुपये अर्पण करनेकी इच्छा व्यक्त की थी और कहा था कि "यदि आप यह धन लो तो मुझे अधिक लाभ होगा, आप यह धन लेकर यथेच्छ दान दे सकते हैं" परन्तु उस आचार्यने भी श्रीसिद्धसेनके समान उसी कारण (साधुता में बाधा आजाने के कारण) उस धनको अंगीकार न करके लल्ल शेठ द्वारा ही एक रम्य जिनालय तैयार करानेमें उसे खर्च करा दिया था। यहाँपर यह बात हमें खास ध्यानमें रखने योग्य है कि एक जैनगृहस्थ एक जैनमुनिको रुपये अर्पण करनेकी प्रार्थना करता है, यद्यपि उस धनको स्वीकार करनेमें त्यागमूर्ति मुनिजीने अपना धर्म न समझा,

---

२ ययौ ल्ललः प्रभोः पार्श्वे चक्रे धर्मानुयोजनम् ॥९७॥
× श्रुत्वेति स प्रपेदेऽथ ससम्यक्त्वां व्रतावलीम् ॥१०१॥
द्रव्यलक्षस्य संकल्पो विहितः सूर्यपर्वणि ॥ १०२ ॥
कथमर्धं मया शेषं व्ययनीयं यदादिश ॥ १०३ ॥
मम चेतसि पूज्यानां दत्तं वहुफलं भवेत् ।
तद् गृह्णीत प्रभो ! यूयं यथेच्छं दत्त वाऽऽदरात् ॥१०४॥
(प्रभा० पृ० ८५)

परन्तु एक जैनगृहस्थ-वह भी जैनधर्मको जान नेवाला त्यागी योगीको धन देनेकी बात कहे क्या यह आश्चर्य जनक बात नहीं है ?

वर्तमान समयमें भी साधु चाहे जैसे शिथिल हो गये हैं, कितनेएक तो अपने नामका खाता खोलकर धर्म प्रभावना की प्रवृत्ति कर रहे हैं, जिनके लिये प्रतिमास हजारोंका धन खर्च होता रहता है, जिनके पास प्रचलित नोटोंके समान संख्याबद्ध पोस्टकी टिकिटें रहती हैं और मात्र पुस्तकोंके ढेरोंकी रखवाली कर रहे हैं ऐसे इन साधुओंको भी कोई जैन गृहस्थ यह कदापि नहीं कह सकता कि महाराज यह धन अंगीकार करो और आप इसका यथेच्छ उपयोग करो। जैनगृहस्थ यह समझते हैं कि मुनियोंका आचार धन ग्रहण करनेका नहीं है और उन्हें धन देनेका हमारा भी धर्म नहीं है। इसी हेतुसे वे खुल्लमखुल्ला रूपसे साधुओंको नगद धन नहीं दे सकते एवं वे इस प्रकार ले भी नहीं सकते। तब फिर जैनगृहस्थ लल्लशेठने जीवसूरिको पचास हजार रुपये देनेकी बात और राजा विक्रमादित्यने श्री सिद्धसेनसूरिके नामपर लिखे हुये रुपयोंकी जो बात हमें सप्र-

माण मिलती है उसका समन्वय किस प्रकार किया जाय ? मुझे तो इन प्रभावकोंकी हकीकतसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि उस समय के मुनियोंमें साधारणरीत्या धन लेने देनेका व्यवहार प्रारंभ होचुका होगा, परन्तु कितने एक त्यागप्रिय विरले महात्मा धनका स्पर्शतक भी न करते होंगे। यदि यह रिवाज साधारण न होगया हो तो जैनगृहस्थकी और सन्यासीके आचारसे परिचित राजाकी इस तरहकी प्रवृत्ति कदापि संभवित नहीं हो सकती कि वे अकिंचन मुनिको धन लेनेकी प्रार्थना करें। साधुमात्र उपदेश और ग्रन्थरचना जैसी निर्दोष प्रवृत्तिसे लोककल्याणकी साधना करते थे। वे अब विक्रम और लल्लशेठके समय समाजसे धन लेकर भी लोककल्याणकी प्रवृत्तिमें पड़े थे, मंत्र तंत्र करते थे, वैद्यक करते थे, ज्योतिप बतलाते थे और मंदिर भी चिनवाते थे। प्रभावक चरित्रमें जो सिद्धसेनसूरिके सम्बन्धमें उल्लेख मिलता है उसमें यह भी बतलाया है कि उन्होंने सुवर्णसिद्धि और सर्षप विद्याद्वारा [1]कर्मारनगर के राजा देवपालको और [2]भृगुपुरके राजा धनं-

---

१ देखो प्रभावक चरित्र पृ० ६५, श्लो० ७५ से ८६ । २

जय (बलमित्रके पुत्र) को एवं दो राजाओंकी लड़ाईमें सैन्यसे और विपुल धनसे सहाय की थी और इस प्रकार राष्ट्रसेवामें भी हिस्सा लिया था। इसी ग्रन्थमें एक प्रबन्ध [३]विजयसिंह सूरिका आता है, उसमें उन्हें गुटिकासिद्ध मांत्रिकके विशेषणसे प्रशंसित किया है इन विजयसिंहसूरिने अपने मुखमें गुटिका रखकर एक मंदिरके लिये रुपयोंका चंदा किया था, उस चंदेमें कितनेएक ब्राह्मणोंने भी (किसीने ५०, १००, २००) रुपये दिये थे और इस तरह किये हुये उस फण्डमें कुल ५०,०००) रुपये हुये थे। उन रुपयोंसे आचार्य श्रीने एक श्रेष्ठ कारीगर की सहायसे काष्ठका जिनमंदिर सुधरवाया था। तदुपरान्त आचार्य [४]आर्यखपुट, आचार्य [५]पादलिप्त, आचार्य [६]रुद्रदेवसूरि और आचार्य [७]नागा-

---

प्रभावक चरित्र पृ० १०२, श्लो० १६५ से १६८। ३ प्रभावकचरित्र विजयसिंहसूरि प्रबन्ध पृ० ६९-७८। ४ प्रभावकचरित्र पृ० ५६ से ६१ श्लो० १४६ से २३२ तक। ५ प्रभावकचरित्र पादलिप्तप्रबन्ध पृ० ४७ से ६१ तक। ६ प्रभावकचरित्र पृ० ५४ ५५। ७ प्रभावक च० पृ० ६२ से ६६ तक-श्लो० २४८ से ३०६ तक। तदुपरान्त प्रभावकचरित्रमें वर्णित प्रत्येक प्रबन्धमें इस तरहकी संख्याबद्ध बातें मिलती हैं और वह असर चैत्यवास

र्जुन आदिकी भी इसी प्रकारकी प्रवृत्ति उन २ प्रबन्धोंमें, उन ग्रन्थोंमें वर्णित की हुई है।

इन सब बातोंको देखते हुवे यह स्पष्ट मालूम होता है कि समाजसे धन लेकर कार्य करने वाले निस्पृह आचार्योंका वंश धीरे २ सस्पृह हुआ हो और अपने पास भी द्रव्य रखकर अपने पूर्वजोंके मार्गको कायम रक्खा हो। संघ पट्टकमें वर्णित चैत्यवासके प्रारंभिक इतिहासमें बतलाया गया है कि, 'जिस वक्त श्रावक धार्मिक कार्योंकी ओर दुर्लक्ष करने लगे और कितनीएक धार्मिक प्रवृत्तियां जो कि श्रावकोंके करने योग्य थीं बन्द पड़ने लगीं वैसे समयमें उन तमाम

नष्ट होजानेपर भी अभीतक चली आरही है। मानदेवसूरि, मुनिसुन्दरसूरि, ४६ वां पट्टधर धर्मघोषसूरि, हेमचन्द्रसूरि, मलयगिरिजी, अभयदेवसूरि, वादिवेताल शान्तिसूरि और वादिदेवसूरिजी प्रभृति अनेक आचार्योंके जीवनमें ऐसी अनेक घटनाओंका उल्लेख मिलता है। राजा कुमारपाल जिनमंदिरमें वारवधुओं (वेश्याओं) द्वारा आरती कराता था यह भी चैत्यवासका ही असर था।

"निसि निविसिऊण पट्टे आरत्तिय-मंगलाइं कारवइ।
वारवहूनिवहेणं मागहगणगिज्जमाणगुणो ॥ (कुमारपालके समसमयी सोमप्रभ)

प्रवृत्तियोंको चालू रखनेके लिये एवं धार्मिक कार्यों को संभालनेके लिये निर्ग्रन्थ साधुओंको भी अपने संयमका कुछ बलिदान करना पड़ा था, मंदिर आदिकी व्यवस्था करनी पड़ी थी। तदर्थ द्रव्यका सम्पर्क, उसका हिसाब और लेन देन वगैरह भी विशेष करना पड़ा था।

मैंने जो ऊपर बतलाया है कि इस मध्यम-मार्गकी ओर आकर्षित हुआ साधुसंघ धर्मकी रक्षाके लिये धीरे २ धनादि प्रपंचकी तरफ भी झुका था, इस बातकी चैत्यवासका प्रारंभिक इतिहास भी पुष्टि करता है। उस समयके कुशल आचार्य बड़ी पवित्रतापूर्वक रहकर एवं सामयिक अपवादोंको सेवन करके भी धर्मकार्य करते होंगे। उनके पास जो धन इकट्ठा होता उस धनको वे अपने लिये न खर्चकर श्रीसंघके हितार्थ ही खर्चते होंगे और इसी कारण वे उस धनको मंगलद्रव्य, शाश्वतद्रव्य या निधिद्रव्यके नामसे व्यवहारित करते होंगे। हरिभद्रसूरिने अपने *सम्बोध प्रकरणमें जिनद्रव्यके पर्यायके

* "पवरगुण-हरिसजणयं पहाणपुरिसेहिं जं तयाइण्णं।
एगाऽणेगेहिं कयं धीरा तं बिंति जिणदव्वं ॥६५॥

तौर पर इन तीन शब्दोंको भी रक्खा है। शब्द-शास्त्रके नियमानुसार पर्यायवाचक शब्दोंका एक समान ही अर्थ होता है, जैसे कि घट, कलश, कुंभ, इन तीन शब्दोंकी व्युत्पत्ति भिन्न २ होने पर भी उनके अर्थ व्यवहारमें जरा भी अन्तर मालूम नहीं होता, मनुष्य, मानव, और मनुज ये तीनों पर्यायशब्द एक ही भावको सूचित करते हैं इसी तरह यहाँ भी शाश्वतद्रव्य, मंगल-द्रव्य, निधिद्रव्य और जिनद्रव्य, ये चारों ही शब्द एकार्थक होनेके कारण इनके प्रत्येकके भावमें लेशमात्र भी अन्तरका संभव नहीं हो सकता। जो भाव शाश्वतद्रव्य शब्दसे लिया जाता है उसी भावको जिनद्रव्यशब्द भी सूचित करता है, अर्थात् शाश्वतद्रव्यशब्दमें जितनी अर्थव्यापकता समाई हुई है उतनी ही अर्थव्यापकता जिनद्रव्यशब्दमें हो तभी वह उसका पर्याय हो सकता है।

मंगलदव्वं निहिदव्वं सासयदव्वं च सव्व मेगट्ठा।
आसायणपरिहारा जयणाए तं खु ठायव्वं"॥९६॥
"जिणपवयणवुड्ढिकरं पभावगं नाण-दंसणगुणाणं।
वुड्ढंतोजिणदव्वं तित्थयरत्तं लहइ जीवो (पृ० ४)॥९७॥

इस सम्बन्धमें श्रीहरिभद्रसूरिजी यहाँतक लिखते हैं कि यह मंगलद्रव्य, शाश्वतद्रव्य, निधिद्रव्य और जिनद्रव्य शब्दसे व्यवहारित द्रव्य ज्ञान और दर्शनका प्रभावक है और जिन प्रवचनका प्रचार करने वाला है। अर्थात् यदि संघमें विद्याकी कमी हो, यदि संघमें सम्यक्त्वकी न्यूनता हो तो उसकी पूरतिके लिये, उसकी वृद्धि के लिये मंगलद्रव्यका उपयोग हो सकता है और यदि संघमें जिनप्रवचनका कम प्रचार हो तो उसका विशेष प्रचार करनेके निमित्त इस द्रव्यका उपयोग करना, व्यय करना शास्त्रसम्मत है। याने संघके धार्मिक अंगों, जिनकी नीव शारीरिक स्वास्थ्य, विद्या प्रचार, आत्मज्ञान की वृद्धि और जिन प्रवचनका प्रचार है, के लिये इस द्रव्यको व्यय किया जाय तो ऐसा कौन मूढ़ या ममत्वी होगा जो उसका निषेध करनेकी ढीठता करे। हरिभद्रसूरिजीके इन दोनों उल्लेखों से यह साबित होता है कि उस समयके चतुर आचार्योंको समाजसे सामाजिक कार्योंके लिये जो द्रव्य मिलता था तदर्थ ही इन चारों शब्दोंकी योजना की थी एवं इन शब्दोंके अर्थसे भी यही बात सिद्ध होती है। इस समय भी धर्मादाय

दूकानमें किसी तीर्थंकरका नाम न चलाकर जो आणन्दजी कल्याणजी या डोसाभाई अभय चंदका नाम चलाया जाता है इससे भी यह स्पष्ट होता है कि इस दूकानका प्रबन्ध और धन यह सब कुछ मंगलद्रव्य, शाश्वत द्रव्य या निधिद्रव्य है और जब आवश्यकता पड़े तब उसे संघके हितार्थ खर्च सकते हैं, इसमें किसी भी तरहका दोष लगता हो यह शास्त्रसे, इतिहाससे, और उपरोक्त प्रमाणोंसे साबित नहीं होता।

अबतक के मेरे प्रस्तुत उल्लेखमें हरिभद्रजीके ग्रथोंमें दिये मूर्तिवाद और देवद्रव्यकी जड़ बतलानेका जो मैंने प्रयत्न किया है उसमें मेरी मान्यतानुसार प्रमाणिकता पूर्वक मैं इस बात को सिद्ध कर चुका हूँ कि ऊपर बतलाये हुये मध्यममार्गके अनुयायियोंने, जिसका विधान-विधिवाक्य अंगसूत्रोंमें उपलब्ध नहीं होता वैसे मूर्तिवादको मात्र एक साधारण और जन-हितके लिये नियोजित किया है और वह पीछे-से अनेक धर्मोंकी देखादेखी वृद्धिको प्राप्त होता गया एवं अन्तमें ऊपर कथनानुसार पांचवीं और छुठी शताब्दी के तान्त्रिक मतकी प्रब-लता हुये बाद वह हमारे समाजमें वज्रलेप

जैसा और एकान्त विधेयके समान होगया है, इतना ही नहीं बल्कि आधुनिक समयमें तो वह क्लेशका मूलकारण बन गया है। उसके कारण ही आज जैनसमाजकी प्रशंसा वकीलों, बैरिष्टरों और अदालतोंमें भी गाई जारही है और प्रतिदिन समाज क्षयरोगसे पीड़ित रोगी के समान विकराल कालकी तरफ खिंचा जारहा है। तथापि इस सामाजिक व्यसनसे समाजका मर्यादित रहना तो दूर रहा किन्तु उसके अग्रगण्य आचार्य, मुनि और श्रीमन्त इस वादकी एकान्ततामें ही सिद्धशिलाका पट्टा मिला समझते हैं। मुझे सिर्फ इसी बातका खेद होता है कि जिन पवित्र निर्ग्रन्थोंने लोकहितकी दृष्टिसे जिस वादको नियोजित किया था वही वाद आज हमें अपना ग्रास बना रहा है, अहो !! कैसा भीषण परिवर्तन !! कैसा पैशाचिक विकार !! और अनेकान्तवादकी मुद्राछापवालोंका भी यह कैसा भयंकर एकान्तवाद !!!

अब मैं एक छोटीसी बात बतला कर अपने इस मुद्देको यहाँही पूर्ण करनेका विचार करता हूँ अतः आप महाशयोंसे प्रार्थना करता हूँ कि आप अधीर न होकर निम्न बातको भी साव-

ध्यानना पूर्वक पढ़लेनेकी कृपा कीजिये। जिस द्रव्यका अंग ग्रन्थोंमें कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता, मात्र हरिभद्रसूरिके ग्रन्थोंपरसे हम उसे शाश्वतद्रव्य, मंगलद्रव्य, निधिद्रव्य या जिनद्रव्य ऐसे एकार्थक नामोंसे पहचान चुके हैं और जिसके व्ययको संघहितके लिये शास्त्रानुमत साबित करचुके हैं उस द्रव्यसे लगते हुए शाश्वतद्रव्य जैसे व्यापक अर्थवाले जिनद्रव्य या देवद्रव्य शब्दके व्यापकअर्थमें संकोच क्यों किया गया ? कब किया गया और उसके किस प्रकारके व्ययके सामने भयंकर पापोंको समन्वित किया गया यह प्रश्न है।

जिन महाशयोंने उपरोक्त इतिहासको मननपूर्वक पढ़ा होगा वे तो स्वयं ही इस प्रश्नका उत्तर प्राप्त करसके होंगे तथापि मुझे विशेष स्पष्टताके लिये यह बतला देनेकी जरूरत है कि जब उस मध्यममार्गका अन्तिम स्वरूप उत्पन्न हुआ और उस निधिद्रव्य, जिनद्रव्य, शाश्वतद्रव्य या मंगलद्रव्यकी व्यवस्था करनेवाले साधु हरिभद्रसूरिके शब्दोंमें वर्णित स्वच्छंदी विलासी और दंभी हुये तब वे महाशय अपने ममत्वास्पद इस सामाजिक एवं पवित्र धनके वारि-

स-हकदार बने और कहने लगे कि इस द्रव्यका उपयोग तो हम ही कर सकते हैं, इसमें किसी अन्यक्षेत्रका जराभी हक नहीं। भलेही दूसरे क्षेत्र कमजोर हो जायँ तथापि इस द्रव्यका उपयोग उनकी पुष्टिके लिये नहीं हो सकता। वे इस द्रव्यपर अपना ही स्वामीत्व बतलानेके लिये यह भी कहने लगे कि यह जो देवद्रव्य या जिनद्रव्य है इसकाउपयोग उसके व्यवस्थापक करसकते हैं। देवकी, देवमन्दिरकी एवं उससे लगते हुये अन्य कार्योंकी व्यवस्था हम करते हैं अतः इस द्रव्य पर हमारे सिवा अन्य किसी क्षेत्रका हक संभवित नहीं है, न संभावित होगा और न ही संभवित होना उचित है। तदुपरान्त वे साधु जिन, जिनशासन, प्रवचन, जिनमूर्ति और जिनधर्म, इन सबके नामसे अधिकाधिक धन एकत्रित करने लगे तथा महाराजा लाइबलकेश वाले महन्तके समान कितनेक महानुभाव तो नित्य नयी रासलीला जैसी धर्मरूढियां भी रचने लगे। उन्होंने उस द्रव्यको बढ़ानेके लिये और उसकी नियमित आय कायम करनेके लिये प्रसंग २ पर उस समयके संघमें अनेक तरहके नये २ धतींङ्ग प्रचालित किये। उस समयका विचारा

....

भद्रिकसंघ क्या करता? वह तो दुर्वासा ऋषि जैसे उन ऋषियोंके (?) शापके भयसे कम्पित हो वे जो कहें उसे ही तद्दत्ति करने लगा और उनके मनघड़ित कायम किये हुए हकोंके अनुसार धन भी देने लगा। उन्होंने पूजामें, तपमें अपनी लाग कायम की, शास्त्र पढ़ानेके लिये और सुनानेके लिये द्रव्य कमानेकी लाग कायम की। अनेक तरहके नये २ तप खड़े करके उस निधिद्रव्यको बढ़ानेकी प्रवृत्ति चालू रक्खी और अन्तमें वे स्वयं एक प्रामाणिक गृहस्थके दर्जेसे भी इतने अधिक नीचे घिसर गये थे कि यदि उनकी यह स्थिति विशेष समयतक चालू रहती तो वे अपने मनुष्यत्वसे भी हाथ धो बैठते ऐसा प्रसंग आ पहुँचा था।

उस समय उन्हींके सम्प्रदायके एक सुधारक चैत्यवासी साधु श्रीहरिभद्रसूरिने कमर कसके उन्हें समझाना प्रारम्भ किया। उस समयके एवं भविष्यके जैनसमाजको जागृत करनेके लिये तद्विषयक अनेक ग्रन्थोंकी भी उन्होंने रचना की। उन ग्रन्थोंमें चैत्यवासियों का सामना करनेके लिये जो उल्लेख किये हैं उनमें यह भी लिखा है कि देवके नामसे, देवतीर्थ-

के नामसे और देव प्रवचनके नामसे जो द्रव्य संग्रहित किया गया है वह कोई एक व्यक्ति या समाज अपने विलासके कार्यों में नहीं खर्च सकता, अपने स्वार्थमें उसकी योजना नहीं कर सकता और उसका किसी भी तरह दुरुपयोग नहीं कर सकता। यदि उस द्रव्यका उपयोग सम्यक्त्वकी वृद्धिके लिये, ज्ञानप्रचारके लिये और प्रवचन प्रचारके लिये न किया जाय और मात्र किसी एक व्यक्ति या समाजके विलासार्थ ही उसका उपयोग किया जाय या उस धनका व्यवस्थापक स्वेच्छापूर्वक उसका उपयोग करें तो वह उपयोग करनेवाला अप्रामाणिक, दुष्ट और नरकके दुःखका हिस्सेदार होता है इतना ही नहीं बल्कि यदि उस पवित्र द्रव्यको अनेक [1] अविहित उपायोंसे बढ़ाया जाय तो वह बढ़ाने वाला भी उतने ही अपराधका पात्र बनता है, अतः उस शाश्वतद्रव्य, निधिद्रव्य, जिनद्रव्य, या मंगलद्रव्यका उपयोग ऐसे मार्गमें करना चाहिये जिससे उसकी ज्ञानदर्शन प्रभावकता

---

१ "जिणवर आणा रहियं वद्धारंता वि केवि जिणदव्वं। बुड्डंतो भवसमुद्दे मूढा मोहेण अन्नाणी ॥ १०२॥ पृ० ४

एवं प्रवचन प्रभावकता सफल हो। उस विशुद्ध द्रव्यका दुरुपयोग होता देखकर जो मनुष्य उसके रोकनेका प्रयत्न न करे उसे भी पापिष्ट की कोटि में रक्खा है। इस प्रकार देवद्रव्य भोजी चैत्यवासियों को हटानेके लिये हरिभद्र-सूरिजीने बहुत कुछ लिखा है। परन्तु उन्होंने ऐसा कहीं नहीं लिखा कि यदि उस द्रव्यका उपयोग ज्ञानप्रचार, प्रवचनप्रचार और सम्यक्त्वकी वृद्धिके लिये या संघके हितार्थ किया जाय तो वह उपयोग करने वाला पापी या नरक गामी बनता है। प्रत्युत उन्होंने इस द्रव्यको ज्ञानदर्शन प्रभावक और प्रवचन वृद्धि कारकके विशेषण देकर उन मार्गोंमें उसका उपयोग करना सुविहित विहित बतलाया है, याने शिष्टसम्मत दर्शाया है। फिर भी यदि हम कदाग्रह या स्वच्छंदतासे उनकी आज्ञा न मानें और स्वच्छंद वर्ताव करें तो हम अपने सिवा और किसे दूषित गिन सकते हैं? उनके पूर्वोक्त उल्लेखोंसे यह भी मालूम होता है कि उस समय दोनों पक्षोंने शाश्वतद्रव्य या जिन द्रव्य शब्दकी व्याख्या अपने २ बचावके लिये जुदी २ की थी। एक पक्षने संकुचित और दूसरेने

विशाल की थी। चैत्यवासकी हिमायत करने वाले पत्नने कहा कि यह जिनद्रव्य हमारी पैत्रिक सम्पत्ति है, हम ही इसके वारिस हैं। हम स्वयं ही देव, देवमूर्ति, देवमंदिर और देव प्रवचनकी तमाम व्यवस्था करते हैं अतः हमारे सिवा अन्य कोई भी इस द्रव्यका उपयोग नहीं कर सकता। दूसरे निरीह और शासन हितैषी पत्नने कहा कि यह साधुओंका आचार नहीं है कि वे द्रव्यका स्पर्श भी करसकें या मंदिरोंकी व्यवस्था करें। उनके पास या उनके अधिकारमें जो द्रव्य है वह मंगलद्रव्य, जिनद्रव्य, शाश्वत द्रव्य और निधिद्रव्य है, इस लिये उसका उपयोग कोई एक व्यक्ति या समष्टी अपने निर्वाह या विलासके लिये कदापि नहीं कर सकता। उसका उपयोग तो ऐसे कार्योंमें करना चाहिये जिन कार्योंसे जिन प्रवचनकी वृद्धि, सर्वज्ञके ज्ञानका प्रचार हो तथा जैन धर्मकी ओर सर्वसाधारण जनताकी विशेष प्रवृत्ति हो, अर्थात् जैन संघके हितार्थ ही उस द्रव्यका व्यय होना उचित है, यह बात सर्वथा प्रामाणिक, शास्त्रसे अबाधित और सुविहित विहित है। मुझे खेदपूर्वक लिखना पड़ता है कि वर्तमान समयमें यह स्थिति

तो दूर रही परन्तु वह पवित्र निधिद्रव्य जो संघहितके लिये नियोजित किया गया है उसका उपयोग मात्र एक संकुचित क्षेत्रमें ही हो रहा है, परन्तु इसमें उस द्रव्यके व्यवस्थापकोंकी ही स्वच्छंदता कारण है। व्यवस्थापकों का उस द्रव्य पर ममत्व होनेसे उसे वे अपने बापकी पूंजी समझ बैठे हैं, इसी कारण अन्य धार्मिक क्षेत्रों (जिन क्षेत्रोंकी पुष्टिकी वर्तमान कालमें विशेष आवश्यकता है) के लिये वह द्रव्य शूद्रके समान अस्पृश्यसा होगया है और पोषण न मिलनेसे वे क्षेत्र प्रतिदिन सूखते जा रहे हैं। आधुनिक कालमें जिन कारणोंसे उस द्रव्यकी वृद्धि हो रही है उनमेंसे बहुतसे कारण तो सर्वथा अविहित हैं और कितनेक कारण ऐसे हैं जिन पर विचार करनेसे हँसी आती है। व्यवस्थापकों की ममत्व पूर्ण सत्तासे उस द्रव्यका उपयोग कितनेक ऐसे कार्योंमें हो रहा है जो कार्य महा हिंसाके मूल हैं और उनमें सट्टे जैसे जूवेका भी समावेश होता है। जिस प्रवृत्तिका श्रीजिन-भगवानने निषेध किया हो उसके द्वारा जिन द्रव्यकी वृद्धि करना या उसमें जिनद्रव्यका उपयोग करना यह श्रीजिनभगवानके अनुयायियों

को कितना अधिक शोभता है !!! यह बात उनके जैन नामको कितना सार्थक करती है !!! मानलो कि यदि हमारे पूज्यदेव श्रीमहावीर भगवान आज विद्यमान होते तो आजकलके कट्टर भक्त अवश्य उनपर द्रव्य चढ़ाते, उन्हें सुवर्ण और चांदीके फूलोंसे पूजते और इस प्रकार उनके पास अतुल धनका ढेर लग जाता, तो क्या उस धनको वह नग्नदेव अपने साथ उठाये फिरते या उसे अपनी मालकीयतका समझकर किसी गृहस्थके वहाँ अपने नामसे जमा करते? मैं इस प्रश्नका उत्तर नकारमें समझ कर इतना कहता हूँ कि उस द्रव्यका उपयोग भगवानके नामसे चलनेवाले महावीर विद्यालय जैसे समाजोपयोगी कार्यमें होता और सो भी उनके ये ही भक्त करते। इस तरह करनेमें जिनद्रव्यके संकुचित अर्थकी भी कोई बाधा नहीं देख पड़ती। परन्तु विचार शून्यताके कारण उस जिनद्रव्य या देव द्रव्यके व्यवस्थापक अशास्त्रीय लकीरके फकीर बनकर वर्तमान समयमें उस पवित्र द्रव्यका (जो आज करोड़ों की संख्यामें विद्यमान है और जिसके खर्चसे शिक्षणप्रचार द्वारा सारे जैन समाजका कल्याण हो सकता है) जिनाज्ञाविरुद्ध

हिंसाजनक मिल जैसे यांत्रिक कार्यों में उपयोग किया जाता है, क्या यह किसी विचारक जैनके लिये दुःखप्रद बात नहीं है ?

१६ वीं और १८ वीं शताब्दीके ग्रन्थकारों के और वर्तमान आचार्यों एवं मुनियोंने इस देवद्रव्यवादको भगवान श्रीमहावीरके नामपर चढ़ा कर यहाँतक लिख मारा है कि—"भक्खणे देव-दव्वस्स + + +सत्तमं निरयं जंति सत्तवारा हो ! गोयमा !" अर्थात् मानो भगवान महावीर कहते हैं कि "हे गौतम ! देवद्रव्यको खानेवाला सात दफा सातवीं नरकमें जाता है, इस लिये किसीने देवद्रव्य न खाना" मेरी मान्यतानुसार यह निषेधवाक्य हरिभद्रसूरिजीके निषेधसे मिलता हुवा ही है और चैत्यवासियोंके परम्परा गत संस्कारोंको नाश करनेके लिये ही यह निषेधवाक्य लिखा गया है। इस बातको मैं भी मानता हूँ कि उस जिनद्रव्य या मंगलद्रव्यका दुरुपयोग न किया जाय, उसे चुराया न जाय, अप्रमाणिक रीत्या न खर्च दिया जाय या निकम्मे कामोंमें न उड़ा दिया जाय इसी कारण यह निषेध किया गया है। परन्तु ज्ञानदर्शन और प्रवचन-की वृद्धिके लिये या उनके उद्धारके लिये इस

द्रव्यका उपयोग किया जाय और उसकेद्वारा संघके दुर्बल अंगोंको पुष्ट बनाया जाय तो उस प्रवृत्तिके सामने कोई शास्त्र या सूरि प्रमाणिक रीतिसे निषेध नहीं कर सकता।

जिनद्रव्यके समर्थ समर्थक श्रीहरिभद्रसूरि उद्घोषणापूर्वक विदित करते हैं तदनुसार ज्ञान प्रभावक, दर्शनप्रभावक और प्रवचन वृद्धिकर उस मंगलद्रव्य, शाश्वतद्रव्य, निधिद्रव्य या जिनद्रव्यका उसके विशेषणोंके अनुसार उपयोग किया जाय तो इसमें जरा भी अप्रमाणिकता नहीं, लेशमात्र अशास्त्रीयता नहीं और कणमात्र दूषण भी नहीं है। इस प्रकारकी वस्तु स्थिति होनेपर भी यदि हम *अपने कल्पित किये हुवे और भगवान श्रीमहावीरके नामपर आरोपित किये हुवे जिनद्रव्यशब्दको और उसके अयुक्त संकुचित अर्थको ही पकड़कर अपने आग्रह, स्वच्छंद एवं सत्ताका पोषण करें तथा वर्तमान समयमें क्षीण होते हुवे क्षेत्रोंकी उपेक्षा करें तो सप्तवारा हो ! गोयमा, ! का उल्लेख

---

* न हु देवाण वि दव्वं संगविमुकाण जुज्जए किमवि।
नियसेवगबुद्धीए कप्पियं देवदव्वं तं ॥ (९०) संबोधप्र० पृ० ४

हमारे सिवा और किस भद्रपुरुषको संघटित हो सकता है !!!

आजसे कुछ वर्षपहले श्रीमान् कुँवरजी भाईने अपने लिखे हुवे देवद्रव्य नामक निबन्ध में उपरोक्त बातको बिल्कुल स्पष्टतापूर्वक पुष्ट की है। उन्होंने लिखा है कि "श्राद्धविधि तथा योगशास्त्रदीपिका आदि अनेक ग्रन्थोंमें कहा है कि पुण्यवन्त श्रावकोंको चाहिये कि वे पुण्यधर्म की वृद्धिके लिये तथा शासनके उद्योतके निमित्त जिनमन्दिर, धर्मशालायें, पोषधशालायें, उपाश्रय, ज्ञानके भण्डार, प्रभुके आभूषण, प्रभुके पधरानेके रथ, पालकियें, इन्द्रध्वजायें, चामर, चैत्यके उपकरण, तथा ज्ञानके उपकरण वगैरह अनेक वस्तुयें अपने द्रव्यसे अथवा प्रयाससे निष्पन्न हुये देवद्रव्यसे बना बनाकर उन साहित्योंसे शासनकी उन्नति करके बादमें उनकी व्यवस्था होती रहे वैसा बन्दोबस्त करके अथवा कुछ द्रव्यकी आमदनी करके श्रीसंघको सार सँभाल करनेको सौंप दें" (देवद्रव्य पृ० ५)

जब इस उल्लेखद्वारा देवद्रव्यके खर्चसे ज्ञानके भण्डार, धर्मशालायें, उपाश्रय और ज्ञानके उपकरण बनानेकी अनुमति दी गई है

तो वर्तमान कालमें समाजमें शिक्षणका प्रचार करनेके लिये हम उसी द्रव्यसे राष्ट्रीय पाठशालायें, राष्ट्रीय महाविद्यालय और राष्ट्रीय विश्वविद्यालय स्थापित करें तथा उसके साधन छात्रालयों, छात्रवृत्तियों और पुस्तकालयोंमें उस द्रव्यका व्यय करें एवं तदुपरान्त संघरक्षाके मूलभूत संघके स्वास्थ्यकी रक्षार्थ उस द्रव्य-द्वारा जगह २ ब्रह्मचर्याश्रम, औषधालय, व्यायामशालायें स्थापित करें तो इसमें कौनसा शास्त्र निषेध करता है? मेरी मान्यतानुसार तो इस प्रवृत्तिमें हमारे कुलगुरुओं एवं व्यवस्थापकोंका कदाग्रह-सत्ता और स्वच्छन्दता के सिवा अन्य कोई भी रोड़ा नहीं अटकाता।

बहुत लंबे समयसे आजतक हमारे दर्शन (सम्यक्त्व) की शुद्धि और वृद्धिके निमित्त उस मार्गमें बहुतसा धन खर्च हुवा और उसका पानी समान अमर्याद उपयोग किया गया है, यदि अबसे एक सौ वर्षतक भी हम उस मार्गमें व्यय न करें तथापि उस क्षेत्रमें कुछ हानि होनेका संभव नहीं है। फिरभी इस क्षेत्रके विषयमें मैं इतना तो जरूर कहूँगा कि जो जीर्ण जिनालय हों या अपूर्ण हों उन सबको सुधरवानेके लिये

एवं पूर्ण करनेके लिये इस द्रव्यका मर्यादित उपयोग होना आवश्यक है।

इस प्रकार मैं बुद्धके मध्यममार्गके असरसे प्राप्त हुये जैनमध्यम मार्गका इतिहास देकर, उसके प्रारंभिक सूरियोंकी अकिंचनता बतला कर, उन सूरियोंकी प्रजाकी अकिंचनता और लोकहितार्थ धनग्राहिता एवं इस मुद्देमें उस समयके बादकी साधुप्रजाकी धन लोलुपता और स्वच्छंदता बतला चुका हूं। उस धनलोलुप चैत्यवासी प्रजाने उस द्रव्यके शाश्वत द्रव्य, जिनद्रव्य, मंगलद्रव्य और निधिद्रव्य जैसे विशाल अर्थवाले शिष्ट सम्मत नामोंपर हड़ताल फेर कर अपने बचावके लिये उनका संकुचित अर्थ उपस्थित कर समाजको भ्रममें डालनेकी बात भी स्पष्टतया विदित कर दी गई है। यह बात भी प्रगट होगई है कि आचार्य श्रीहरि-भद्रसूरिने उन नामोंको ज्ञान दर्शन प्रभावक और प्रवचन वृद्धिकारकके विशेषण देकर उन सब का विशाल अर्थ ताजा करके और उस अर्थको ही सामने रखकर चैत्यवासियोंकी खूब मट्टी पलीद की है। उस समयके पीछेके साहित्यमें जो भक्खणे देवदव्वस्सका उल्लेख मिलता है

उसका असली भाव भी ऊपर बतला दिया गया है। इन सब बातोंका सार यह निकलता है कि वर्तमानमें मात्र हमारे आग्रह एवं अविवेकसे ही हम इन सब सरल और शिष्ट उल्लेखोंका उलटा तथा अशिष्ट अर्थ करके उन्हें विकृत करते हैं और ऐसा करके हम साधन होने पर भी पादे कुठारः की प्रवृत्तिमें लीन होरहे हैं। इस प्रकार मैंने यथामति मूर्तिवाद और देवद्रव्यवाद, जिन के विधानकी बू तक भी अंगग्रन्थोंमें नहीं मिलती उन्हें सूत्र पीछेके साहित्यके प्रमाणोंकी और उस समयके उपलब्ध इतिहासकी सहायसे आपके समक्ष चर्चास्पद रीतिसे उपस्थित किये हैं। अब मैं अन्तमें तत्वं ग्राह्यं या तत्वं परीक्ष्यं विवेकिभिः कह कर इस द्वितीय मुद्देको यहाँ ही समाप्त करता हूँ।
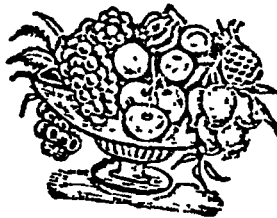
जैन कथानुयोग।
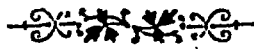
प्रारंभमें की हुई अपनी सूचनाके अनुसार अब यहाँपर मुझे चौथे आगम-वाचन वादका प्रारंभ करना चाहिये। परन्तु आपको स्मरण होगा कि इससे पहले मैंने जैन कथानुयोग और श्वेताम्बर दिगम्बरके मूर्तिवादकी भी समालोचना करनेका वचन दिया था, तदनुसार उस सम्बन्धमें कुछ लिखकर प्रस्तुत मुद्देको बनते तक शीघ्रतासे आपके समक्ष रखनेकी विस्मृति न करूँगा। जैन कथानुयोग की समालोचना करना यह एक इमलीके पत्ते गिननेके समान दीर्घ सूत्री कार्य है, परन्तु स्थाली पुलाक न्याय से चाहे जैसे दीर्घकाय पुस्तक या साहित्यकी भी समालोचना हो सकती है और समालोचक समाजमें उस तरहकी प्रवृत्ति भी प्रामाणिक मानी जाती है, अतः मैं भी पूर्वोक्त न्यायका अनुसरण करके प्रस्तुत समालोचना का उत्क्रम करता हूँ।

जैन कथानुयोगमें आनेवाले वृत्तान्तोंके मुख्य दो प्रकार हैं। एक चरित विभाग और

दूसरा कल्पित विभाग। उनमें जो चरित्र विभाग है उसके सम्बन्धमें मुझे खेदपूर्वक लिखना पड़ता है कि उस विभागमें चरितता बहुत ही कम नजर आती है, परन्तु पौराणिकता की मात्रा इतने अधिक प्रमाणोंमें बढ़ गई है-बढ़ादी गई है कि जिससे उसे अब चरित विभागका नाम देना भी कठिन प्रतीत होता है। उस विभागमें अतिशयोक्ति तो इतनी की गई है कि जिसकी मर्यादा भी कायम न रहनेसे वह अलंकार रूपमें नहीं घट सकती। भगवती सूत्रमें जहाँपर किसीकी दीक्षाका वर्णन आता है वहाँ वह दीक्षित होनेवाला राजा हो या रंक, ब्राह्मण हो या वैश्य परन्तु उन सबके लिये एकसमान और एकसाथ तीनलाख (रुपये) का खर्च बतलाया है, याने दीक्षा लेनेवालेको दीक्षा लेनेसे पहले एक लाख तो हजामत करनेवाले नाईको देना चाहिये, एक लाखका रजोहरण लेना चाहिये और एक लाखका पात्र लेना चाहिये। यह उल्लेख जितना मर्यादा विरुद्ध है उतना ही शास्त्र विरुद्ध है। कदाचित् किसी धनवानने दीक्षा लेते समय क्षौर करनेवाले नापित को एक लाखका इनाम दिया हो यह सम्भव हो

सकता है, परन्तु एक लाखका रजोहरण और एक लाखका पात्र किस तरह संभवित हो सकता है? यदि कदाचित् यह कहा जाय कि हीरा रत्नजड़ित रजोहरण तथा वैसा ही पात्र लिया जाय तो यह बात संघटित हो सकती है, परन्तु ऐसा करते हुये दीक्षा लेनेवाला दीक्षा लेते ही जिनाज्ञाका लोप करता है। यदि उसे हीरा और रत्न रखने हों तो निर्ग्रन्थ बननेका कोई कारण ही नहीं रहता। हीरा और रत्न रखनेसे निर्ग्रन्थकी निर्ग्रन्थतापर पानी फिर जाता है। सूत्रोंमें आये हुवे चरितविभागमें ऐसे अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन सूत्रके मूल मुद्देको हानि पहुँचाते हैं। ऐसे वर्णनोंसे हमारा कथानुयोग कैसा शोभता है इसपर विचार करके पाठक स्वयं ही न्याय करें।

भगवान वर्धमानके लिये लिखा गया है कि उन्होंने दीक्षा ली तब उनके पास इन्द्रका दिया हुवा देवदूष्य था, जिसका मूल्य बादमें लाख सुवर्णमोहरों जितना माना गया था। यहाँ पर मैं प्रश्न करता हूँ कि निर्ग्रन्थोंके नायक और कठिन त्यागके प्रवर्तक भगवान वर्धमान, जिनके मुख्यशिष्य सुधर्माने उनके नामसे जम्बू

को यह संदेश दिया था कि भगवान वर्धमानने फटा टूटा और उतरा हुवा वस्त्र वह भी कारण पड़नेपर ही रखनेकी अनुमति दर्शाई है ऐसे समर्थ त्यागी ज्ञातपुत्रके जीवनमें यह देवदूष्य वाली बात संगत हो सकती है ? मानलो कि वे उस वस्त्रको असूर्छाभावसे रखते थे, परन्तु ऊपर कथन की हुई अनुमतिके दर्शानेवाला परम योगी पुरुष उस प्रकारके कीमती वस्त्रका स्पर्श भी किस तरह और किस कारणसे कर सकता है ? वर्तमान समयमें भगवान वर्धमान जैसे असहकारके प्रबल प्रवर्तक महात्मा गांधी यदि अमुक कारणपूर्वक और प्रजाके हितके बहाने से सरकारके साथ सहकार करें और दूसरोंको असहकारका उपदेश दें यह बात जितनी संगत या असंगत मालूम देती है उतनी ही भगवान वर्धमानके लाख सुवर्णमोहरोंके वस्त्रवाली बात भी संगत या असंगत मालूम होती है। कहा जाता है कि भगवान महावीरने राजपिंड या देवपिंड मुनियोंके लिये निषेध किया है, परन्तु इस जगह तो वे देवपिंडके निषेधक भगवान वर्धमान स्वयं ही लाख स्वर्ण-मोहरोंके मूल्यवाले देवदूष्यको ग्रहण करते हैं

यह कैसी संगत और सुशोभित घटना है ? इस बात पर पाठक स्वयं ही विचार करलें। निषेधक स्वयं जिस निषेधका अनुसरण न करता हो और निषेधाज्ञाको प्रचारित करना इच्छता हो उसका वर्ताव मनसि अन्यत् वचसि अन्यत्-अर्थात् मनमें कुछ और वचनमें कुछ और जैसा माना जाता है। इस तरहके मात्र जबानसे कहने वाले निषेधकोंकी आज कोई बाततक नहीं पूछता और न ही उनके जीवनकी कुछ कीमत है। हमारे ग्रन्थकारोंने ऐसी २ अनेक बातें लिखकर कितनीएक जगह तो पुराणोंको भी मात करदिया है। ऐसा करके जिनशासनकी प्रभावना की है। कैसी सुन्दर प्रभावना और कैसा सुन्दर उसका उपाय !!! कहा जाता है कि भगवान महावीर जब देशना देते तब देवताओंके द्वारा तीन किले-गढ़ रचे जाते थे। वह भी पाषाणके नहीं बल्कि चांदी स्वर्ण और रत्नोंके होते थे। कैसी विचित्र बात है एक निर्ग्रन्थको सादी और सत्य बात कहनेके लिये सूत्रोंमें जगह २ पर वर्णित शिलापट्ट या वृक्षकी छाया पर्याप्त है, परन्तु ऐसी सादी प्रथाको पसंद न करनेवाले हमारे ग्रन्थकारोंने उसके बदले चांदी, सोने

और रत्नोंके तिगड़े की रचना करनेमें कैसी कुशलताका परिचय दिया है !!! मुझे तो यह एक बिल्कुल विचित्र बात मालूम देती है कि उपदेशक भी किलेमें घुसकर उपदेश देते होंगे या उन्हें किसीके डरसे किलेमें बैठकर उपदेश देना पड़ता होगा ? इस प्रकार उपदेश और किलोंके बीच किसी तरहका सम्बन्ध न होने पर भी उन्होंने उपदेशके समय जो तीन किले, कितनीएक वापिकायें—बावाड़ियां एवं कितनेक नाटक भी बना दिये हैं और खुद भगवान महावीरको भी चतुर्मुख बना दिया है, उनकी इस शिल्पकलाके सामने विश्वकर्माको भी शर्माना पड़ा होगा। भगवान महावीर सर्वज्ञ थे इस बातको हम सब मानते हैं, इससे हम उनकी सर्वज्ञताका लाभ लेकर अपने माने हुवे और प्रसाद्य पुरुषोंके नामोल्लेख उनके मुखसे बनावटी रीतिसे करावें यह कितना अनुचित कार्य है और भगवान महावीरकी आशातना करनेवाला है इस बातका विचार विचारक स्वयं कर सकते हैं। मैं यह कहूँ कि उस महापुरुषने अपने पवित्र मुखसे मेरे पिताका जीवन चरित्र कथन किया था। आप कहें कि महावीरने भी हमारे सगे

सम्बन्धियोंको याद किया था तो क्या यह सब कुछ असंभवित और निषेध्य नहीं है ? इस तरह की निर्मूल बातें हमारी मूर्खताका ही परिचय देती हैं। श्रीहेमचंद्रसूरिने अपने बनाये हुये वीर चरित्रमें भगवान वर्धमानके मुखसे राजा[1]कुमार पालकी प्रशंसा कराकर उसे खुश करनेका जो लाहा लिया है वह ऊपर लिखी हुई प्रशंसासे कुछ कम नहीं है। इस प्रकारके अनेक कल्पित उल्लेखोंसे भगवान महावीरके चारित्रकी ऐतिहासिकतामें कितनी अधिक क्षति आई है ? इसका जवाब एक इतिहासज्ञ विचारकके सिवा अन्य कौन दे सकता है ? महावीरका माहात्म्य बढ़ाने के लिये उनकी नग्नताके बदले सवस्त्रता कहें तथा सुवर्ण, मणि और हीरा जवाहरातके तिगड़ेसे ही या देव देवियोंकी दौड़धूपसे ही उनके माहात्म्यका उत्कर्ष होना समझें तो माहात्म्यको समझनेका यह प्रकार सर्वथा अनुचित और विपरीत है, एवं आडम्बरी सामग्रीद्वारा एक परम त्यागी योगीकी परीक्षा करनेके समान

---

१ वीरचरित्रमें आई हुई भगवान महावीरके मुखसे कुमारपालकी प्रशंसावाली बात मात्र हेमचन्द्रसूरि रचित वीरचरित्र में ही मिलती है अतएव उसे मैं कल्पित मानता हूँ।

*हास्यास्पद है। इसके उपरान्त ऐसी अन्य भी बहुतसी बातें हैं जिनसे हमारा जो चरित्र विभाग ऐतिहासिक गिना जाता है वह भी पुराण जैसा होगया है यह कुछ कम खेदकी बात नहीं है। यहाँपर मैं प्रकृत विषयका मात्र एक ही उदाहरण देकर अब कल्पित कथाओंकी ओर आपका ध्यान खींचूंगा।

एक जगह इन्द्रकी उस ऋद्धिका वर्णन किया गया है जिस ऋद्धिको लेकर वह राजा दशार्ण के समय भगवान महावीरको वन्दन करने आया था। वहाँपर बतलाया है कि उस इन्द्रके ६४००० (?) हाथी थे, प्रत्येक हाथीके आठ २ दाँत थे, प्रत्येक दाँतपर आठ २ वापिकायें थीं, प्रत्येक वापिकामें आठ २ कमल थे, जितने कमल थे उतने ही प्रमाणमें उनकी कर्णिकायें थीं, प्रत्येक कर्णिका पर एक २ प्रासाद (बिल्डींग) था, उस प्रत्येक प्रासादमें आठ २ इंद्रानियोंके साथ एक २ इंद्र बैठा था और उस प्रत्येक इंद्रके सामने बत्तीस प्रकारका नाटक हो रहा था, जिसमें

---

* "देवागम-नभोयान-चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नाऽतस्त्वमसि नो महान्" ॥

एकसौ आठ देवकुमार और एकसौ आठ देव कन्यायें पार्ट करती थीं—अभिनय करती थीं। (देखो—वृद्ध ऋषिमंडलस्तव, आवश्यकचूर्णि और श्राद्धविधि पृ० ५०–५२)।

इस वर्णनके सामने तो पुराणके वर्णन भी फीके मालूम देते हैं। इसमें हाथीके दाँतोंपर पानीकी वापिकायें होनेका जो उल्लेख किया है वह तो सर्वथा ही असत्‌में से सत् करने जैसा, शिलापर कमल जमानेके समान और देश, काल, शास्त्र एवं रूढी विरुद्ध है। उसमें मुख वगैरह की अन्यान्य संख्यायें भी विचारणीय हैं। परन्तु यह तो कल्पनाका विषय होनेसे कदाचित् अमर्यादित अतिशयोक्तिमें समाविष्ट हो सकता है, किन्तु दाँतोंपर जलवापिकाओं का होना तो बिलकुल ठंडे पहरकी गप्प मालूम होती है। वर्तमान समयमें इस प्रकारकी अनेक कथाओं द्वारा उपाश्रयोंमें बैठकर रेशमी, खीनखाव और जरीके तिगड़ेमें पाटपर विराजमान होकर हमारे कुलगुरु श्रोताओंको रंजित कर रहे हैं, यह देखकर मुझे तो चौपालमें बैठकर अफीमची किसानोंके सामने गप्पें मारते और हूँकार करते चारणोंकी स्मृति आजाती है। आश्चर्य तो

यह होता है कि व्यापारविद्यामें अतिनिपुण वणिक् समुदाय विना विचार किये धन्यवाणी और तहत्त वचनकी गर्जनायें किस तरह करता होगा? पुण्यविपाक और पापविपाककी कथाओं एवं अन्य कथाओंके अधिक विभागमें मैंने ऐसे २ अनेक वर्णन देखे हैं, इससे इन कथाओंको इस वर्णन से उतरती कैसे कहा जाय? जिस साहित्य में चरितविभाग भी पौराणिक स्वरूपकी स्थिति भोगता हो उसके कल्पित कथाविभागका तो कहना ही क्या है!!! कल्पित कथाओंमें उनके रचनेवालोंने साहित्यशास्त्रोंकी मर्यादा और कार्यकारणकी व्यवस्थाका भी पूरा खयाल नहीं रक्खा। वे कहते हैं कि जो परिग्रहका परिमाण करता है वह अतुल धनसम्पत्तिके परिग्रहका भोगी बनेगा, साधुओंको दानदेनेसे दानदेनेवाला चक्रवर्ती जैसा सम्राट होगा। जो यहाँपर ब्रह्मचर्य पालन करेगा वह फिर हजारों देवियोंका चिर संगी बनेगा! इन बातोंपर यदि आप विचार करेंगे तो मालूम होगा कि जो हेतुरूप पदार्थ हैं उन दोनोंके बीच कितना अधिक विरोध रहा हुवा है। परिग्रहके अनिच्छुकको अतुल धनसम्पत्ति किस तरह मिल सकती है? दान-

देनेवाला चक्रवर्ती सम्राट किस तरह बने ? और ब्रह्मचर्यका संस्कारी सुधरा हुवा व्यभिचारी कैसे बन सकता है ? इस तरहकी असंगतियों के उपरान्त कितनीएक ऐसी कल्पित कथायें भी घड़ी गई हैं कि जिनसे विशेषतः संस्कारों और मनोवृत्तिपर आधारित कर्मबन्धकी व्यवस्थाको भी बड़ा भारी धक्का पहुंचा है।

कुँवरजीभाईके देवद्रव्य नामक निबन्ध में आप ऐसी अनेक कथायें देख सकते हैं जिस से उपरोक्त बात भलीभाँति ध्यानमें आसकती है (देखो ऋषभदत्त की कथा पृ० ११) इस कथा के मालिकने स्वकार्यमें व्यग्र होनेसे देवद्रव्य से लगती विस्मृति की थी इससे उस बेचारे को भैंसेकी योनिमें भेज दिया। मुझे तो यह मालूम है कि "माया तैर्यग्योनस्य,, अर्थात् तिर्यंचता का हेतु दम्भ है। यहाँपर तो कथाकारने विस्मृति के परिणाममें ऋषभदत्तशेठको भैंसा बनाया है, परन्तु उसने जो परिधापनिका उधार लेकर जिनपूजा की थी उसके परिणाममें उसकी इन्द्रोंसे पूजा न कराई, यह वदतो व्याघातः, जैसी बात है। अब सागरशेठकी कथाका भी नमूना देखिये, पृ० १३। इस कथामें सागरशेठने चैत्यद्रव्य

से चैत्यके कारीगरोंमें व्यापार किया था, उस व्यापारसे उसने मात्र १२॥ रुपयेका नफा लिया था, उसके परिणाममें उसे जलचर होना पड़ा, ६ महीने तक वज्रकी चक्कीमें पिसना पड़ा, फिर तीसरी नरकमें गया, मच्छ बना, चौथी नरकमें गया, पहली नरकसे लेकर सातवीं नरकतक अनेक बार गया, फिर हजार दफा सूवर, हजार दफा बकरा, हजार दफा हरिण, हजार दफा खरगोश, बारहसींगा, गीदड़, बिलाव, चूहा, न्यौल, छुपकी, गोय, सर्प, बिच्छू, कृमी, पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वृक्ष, शंख, जोख, कीड़ा, मक्खी, भ्रमर, मच्छर, कछुआ, रासभ, भैंसा, अष्टापद, खच्चर, घोड़ा, हाथी, व्याघ्र, और सिंह वगैरहकी योनिमें उसने हजार २ बार जन्म धारण किये इतना ही नहीं बल्कि कथाकारने तो उसके सिरपर इससे भी विशेष दुर्दशा का पहाड़ रख दिया है। मेरी मान्यतानुसार उस सागरशेठने चैत्यकी जो अवैतानिक सेवा की थी उसके बदलेमें कथाकारकी दृष्टिसे वह अवश्य दिव्य पुरुष होना चाहिये था, परन्तु कथामें इस विषयका इशारा तक भी नहीं किया !!! मैं मानता हूँ कि अन्याय करनेवाला दण्डका पात्र

अवश्य है परन्तु वह दण्ड अन्यायके प्रमाण में ही उचित होता है। ऊपर बतलाये हुवे सागरशेठका न्याय करनेवाली फौजदारीकोर्ट, उसका न्यायाधीश और उसकी धारासभा मुझे मानुषिक नहीं प्रतीत होती। और भी देखिये श्रेष्ठिकथा पृ० २२। इस कथामें कथाकारने कथागतशेठका कुछ विचित्र ही चित्र लिखा है। एक नटने उसे दुखीकरनेवाले शेठको दुखी करने के लिये शेठके चिने जाते हुये एक घरमें जैन मंदिरकी ईटका टुकड़ा वह भी किसीको मालूम न हो इस रीतिसे दीवारमें चिन दिया। इस कामके परिणाममें इस बातको न जाननेवाला और न करनेवाला भी शेठ उस घरमें रहनेसे निर्धन होगया। इस कथामें तो कथाजोड़ने-वालेने कोई नवीन ही कलम-कानून लगाई है जिससे अपराधी तो मुक्त हुआ अपराध न करने वाला और उस बातको न जाननेवाला सर्वथा निरपराधी दण्डका शिकार बन गया। धन्य है कथाकारकी चतुराई को !!!! इस कथाको घड़ते समय कथाकारने एक तरफी धुनमें अकृतागम के भयंकर दूषणको भी नहीं समझा। कैसा सुन्दर न्याय ? इस सम्बन्धमें मैं ज्यों २ विशेष

लिखता हूँ त्यों २ मुझे अधिक खेद होता है कि श्रीयुत् भाई मोतीचन्द सोलीसीटर कापड़िया जो पुराणोंका उपहास करते हैं वही सज्जन पुराणोंको भी पीछे हटानेवाली ऐसी निर्मूल कथाओं को आदर्श कथा किस तरह मानते होंगे ?

मैं यहाँ पर ऐसी कितनी कथाओंका उल्लेख करूं, जहाँपर थोड़ेसे अपवादोंको छोड़कर इसी प्रकारकी कथाओंका बड़ा सागर उछलता हो वहाँपर उचितानुचितका पता ही कहाँ लग सकता है ? जिन पाठकोंको ऐसी कथाओंको देखने की इच्छा हो उन्हें पउमचर्य, विजयचन्द केवली चरित्र, श्राद्धविधि, उपदेशसप्तति द्रव्यसप्तति और श्रीपालरास इत्यादि मूलग्रन्थ या उनके भाषान्तर देखलेने चाहियें और उन्हें पढ़ेबाद यदि पाठकोंको यह मालूम हो कि मैंने जो कहा है वह असत्य है तो उस विषयमें मुझे लिखने की कृपा करें । कथाओंकी बात तो दूर रही किन्तु कितनेक ऐसे ग्रन्थ भी रचे गये हैं और उन्हें उन ग्रन्थकारोंने सीधा श्रीवर्धमानके नामपर ही चढ़ा दिया है । पउमचर्यके कर्ताने अपने रचे हुये पउमचर्यको भी भगवानवर्धमानके नामपर पटक दिया है !!!: भगवतीसूत्रको संकलित

करनेवालेने अपनी संकलनाको श्रीवर्धमान और *गौतमके प्रश्नोत्तरमें संकलित किया है !!
वसुदेवहिंडिके जोड़नेवालेने अपनी जोड़को सुधर्मा और वर्धमानके समयकी बतलाई है !
वर्धमानदेशनाके रचयिताने अपनी मनःपूत देशनाका वर्धमानदेशना नाम रक्खा है !! इस तरहकी रीतिका अनेक ग्रन्थोंमें अनुसरण किया गया है और वह आजतकके ग्रन्थोंमें भी किया जाता है। सोलहवीं शताब्दीमें होनेवाले रत्नशेखरसूरिने अपने बनाये हुये श्राद्धविधिप्रकरणमें लिखा है कि श्रीवर्धमानने अभयकुमारके प्रश्नोंके जो उत्तर दिये थे उनका मैं इस श्राद्धविधि नामक ग्रन्थमें संग्रह करता हूँ ! कहाँ तो दो हजार वर्ष पहिलेके श्रीवर्धमान और अभयकुमार ! और कहाँ यह परसों होनेवाले रत्नशेखर सूरि ! तथापि कदाचित् किसी विद्याके बलसे वे सिद्धशिलातक (?) पहुँचे हों और वहाँपर विराजमान श्रीवर्धमान और अभयकुमारको पूछकर उन्होंने यह ग्रन्थ बनाया हो तो यह

*समवायांग और नंदीसूत्रमें भगवतीसूत्रके विषयका वर्णन दिया है, उसमें श्रीवर्धमान और गौतमके प्रश्नोत्तरोंके उल्लेखकी गंधतक नहीं है।

ऐसे महापुरुषों के लिये सम्भवित है !!!!! इस तरहके अनेक ग्रन्थ, गाथायें और आजकल तो दोहेतक घड़नेवाले वर्तमान समयमें श्रीवर्धमानके ही नामसे कमा खाते हैं। तथापि हम श्रीवर्धमानके कितने अधिक भक्त बनगये हैं कि किसीकी भी घड़न्तमें श्रीवर्धमानका नाम आते ही विवेकको भी एकतरफ रखकर हाँजी हाँ कहकर अपना ही अहित करते हैं। हमारे चरितविभाग और कल्पित कथा विभागकी स्थिति इतनी अधिक खराब है कि यदि उसका पृथक्करण नहीं किया गया और कल्पित कथाओंको बुद्धकी जातक कथाओंके समान मानुषिक रीति से सम्भवित सांचेमें न ढाला गया तो कुछ समयके बाद उसे कोई सूंघने तक की भी पर्वाह न करेगा। अब अंधश्रद्धाका समय बहुत व्यतीत होचुका है। मैं मानता हूँ कि ग्रहिलभक्ति के आवेशसे हम भयंकर अनर्थोंको कर डालते हैं और इसी कारण हम देव, इन्द्र, शक्र, शतक्रतु, पुरंदर, मघवा, मेरु और शची वगैरहके मूल और मुख्य अर्थोंतक न पहुँचकर उसके पौराणिक रूप अपने साहित्यमें मिलाकर साहित्यको विकृत कर रहे हैं, एवं पूर्वके कथाकारोंने भी इसी

कारण इस तरहका विकार पैदाकर साहित्य को विकारित करनेमें कुछ कचास नहीं रक्खी। उन कथाकारोंका एक ही उद्देश्य था कि कथाओं में चाहे जैसे भयंकर भय और बड़ी २ उधार-रूप लालचें दिखला कर लोगोंको सन्मार्गपर लाना, केवल इसी धुनमें उन्होंने मात्र पुराणोंकी रीतिका अनुसरण करके और साहित्यशास्त्र, तथा धर्मशास्त्र, एवं काल्पनिक विषयकी मर्यादाका लोप होनेतक भी पीछे फिरकर न देखा। इससे उनके सदुद्देशके बदले वर्तमानमें ऐसा विचित्र परिणाम उपस्थित हुआ है कि नगद धर्मको छोड़कर मनुष्य उधार धर्मके पंथमें पड़कर दिनप्रति दिन अधःस्थिति प्राप्त करते जारहे हैं और हमारा यह अधःपात कहाँ जाकर अटकेगा यह भी मालूम नहीं होता। बस इस विषयमें इससे अधिक कलम चलाकर मैं आपको कष्ट देना नहीं चाहता।

मैं पहले कह चुका हूँ कि हमारे कुलगुरुओं ने कितनेक अपने भीतरी मतभेद गृहस्थियोंमें भी घुसा दिये हैं, गृहस्थियोंको भी उन्होंने अपने जैसा कलही बना कर अपने गुरुधर्मका कर्तव्य पालन करनेमें जरा भी त्रुटि नहीं रक्खी। मैं

मानता हूँ कि चैत्यवास हुयेबाद मुनियोंके अन्तिम तीन चार उद्धार हुये हैं तथापि वे अभी तक अपने मूलमार्गपर आये हुये मालूम नहीं देते, परन्तु धीरे २ निम्नगाके समान वे निम्न प्रवाह में ही बहे जारहे हैं और कितनेएक झगड़े श्रीवर्धमानके नामपर चढ़ाकर हमें भरमा रहे हैं। चौथके शौकीन भक्त कहते हैं भगवान वर्धमान स्वयं कथन कर गये हैं कि मेरे बाद अमुक वर्षमें कालक सूरि होंगे और पंचमीकी चौथ करेंगे अतः चौथको छोड़कर भगवानकी आज्ञा भंग न करनी चाहिये। पंचमीके शौकीन भक्त कहते हैं कि प्रथमसे तो पंचमी ही थी अतः पंचमीको ही मानना चाहिये। यदि इस विवाद के लिये इतिहासकी राय ली जाय तो वह स्पष्टतया जाहिर करता है कि इस विषय में जो परमयोगी वर्धमानका नाम लिया जाता है वह सर्वथा निर्मूल बात है और यह मात्र अपने पक्षको महान् पुरुषके नामपर चढ़ाकर कमाखाने की कलाके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। वैदिकों का यह पुरानेमें पुराना ऋषिपंचमीका त्यौहार है। उस त्यौहारके उत्सवके अनुसार जैनियोंने भी मुनियोंकी स्थायिस्थितिके (चातुर्मासिक स्थितिके)

प्रारंभ कालकी निश्चित मर्यादा बतलानेके लिये उसे पर्वदिवस रूपसे माना हुवा है अतः इतिहास तो रूढ परम्पराकी दरकार न करके पंचमी के पर्वको स्वीकारनेमें ही अपनी प्रामाणिकता समझता है। एक यह भी बात है कि जिस कारणसे पंचमीकी चौथ की गई थी अब वह कारण प्रतिवर्ष नहीं होता, इससे किसी मजबूत कारण सिवा पंचमीकी प्राचीन परम्पराका लोप करना यह भी एक प्रकारका मर्यादाभंजक आग्रह है। दिगम्बर संप्रदाय भी अपने इस पर्वको पंचमी से प्रारम्भ करके इसी बातकी पुष्टि करता है। तथापि कदाचित् इस युगके बन्धु (साधु और श्रावक) इस स्पष्ट एवं सादे सत्यकी ओर न झुक सकते हों तो भले ही अपनी इच्छानुसार वर्तें परन्तु इसके लिये कलह करके वीर के पुत्रपनका वीरत्व न दर्शावें इतना ही बस है। इसी तरह अधिक मासका क्लेश भी निर्मूल है और यह लौकिक है। जब हम लौकिक पर्वोंको स्वीकार करते हैं तो फिर उनकी व्यवस्था भी उसीके आधारसे करनी चाहिये। अतः इस अधिक मासका निराकरण भी लौकिक रीतिसे शीघ्र ही हो सकता है, तथापि ममत्ववश ऐसी

साधारण बातमें भी महापुरुष वर्धमानके नाम से उनके प्रवचनको लांछित करके न जाने ये आ-डम्बरी लोग क्या करना चाहते हैं ? इसी प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बरोंमें जो मूर्तिपूजा से लगता भीषण झगड़ा चल रहा है उसका मूल-कारण भी ये दोनों पक्षके कुलगुरु ही हैं। मूर्ति-पूजाका उद्देश देखने पर यह बात सम्भवित नहीं होती कि मूर्तिको कन्दोरा होना ही चाहिये, मूर्तिको आँखें होनेपर भी उनके ऊपर बड़ी २ चश्मा जैसी बनावटी आँखें लगानी ही चाहियें या मूर्तिको नग्नही रखनी चाहिये। मूर्तिपूजक मूर्तिके कन्दोरे, चश्मे या नग्नतासे किसी तरह का बोध प्राप्त करते हों यह सम्भव नहीं, किंतु वे मात्र मूर्तिके प्रशान्त मुखमण्डल से या उसकी योगिमुद्रासे इस प्रकारका भाव प्रगट करते हैं कि ऐसी शमावस्था यह आत्माका मूलगुण है और उसे इस शान्ताकृतिको देखकर किस तरह प्राप्त करना, ऐसा प्रयत्न करते हैं। न्यायकी दृष्टिसे विचार करने पर यह मालूम हो सकता है कि उपास्यदेवकी जो स्थिति हमें पूज्य हो, प्रिय हो या स्मरणीय हो उसी स्थितिकी मूर्ति हो तो वह विशेष संगत है। यदि उपास्यकी हमें

संन्यस्तस्थिति पूज्य हो तो उसकी संन्यासी जैसी ही मूर्ति आदरणीय हो सकती है। उसके स्थितिके अनुरूप मूर्ति रखने पर भी यदि हम उसके पास या सम्मुख संन्यासीके मठ जैसा वातावरण न रक्खें तो वह उपास्यकी पूजा नहीं किन्तु उसकी विडम्बना है। संसारका कोई भी संन्यासी वस्त्राभरण नहीं पहनता, सिर पर काष्ठतकका भी मुकुट नहीं रखता, वह कानोंमें कुंडल हाथोंमें बाजुबन्द और कटिभाग में कंदोरा नहीं पहनता, उसके सामने पुष्पोंका ढेर नहीं लगा होता और उसके मठमें नाटक-शाला जितनी रोशनी भी नहीं होती। मात्र उसके आसपासका वातावरण शान्त और निर्मल होता है, तथापि यदि हम अपने संन्यासी को विरूपस्थितिमें रक्खें तो उस रीतिको मैं उसकी मस्करी सिवा अन्य कुछ नहीं समझता। यदि कोई भाई यह कहे कि हमारे लिये तो श्री वर्धमानकी सर्व अवस्थायें उपास्य ही हैं तो इसे मैं विशेष सुन्दर मानता हूँ। परन्तु उस प्रत्येक अवस्थाकी सर्वथा भिन्न भिन्न मूर्ति होनी चाहियें। श्रीवर्धमानकी क्रीड़ावस्था, श्रीवर्धमान और यशोदाकी गृहस्थावस्था, दीक्षितावस्था,

उनकी परमयोगिमुद्रावस्था और सिद्धावस्थाकी मूर्तियें होनी चाहियें। ऐसा किये विना मात्र एक योगमुद्रामें ही उनकी सर्व अवस्थाओंकी कल्पना नहीं हो सकती। एक ही मुद्रामें सब अवस्थाओंकी कल्पना करनेवालेके लिये तो किसी आकारवाली मूर्तिकी अपेक्षा गोलमटोल पाषाण ही काफी है। अस्तु, ऐसा एक भी प्राचीन प्रमाण नहीं मिलता कि जो श्वेताम्बर और दिगम्बर मूर्तिकी भिन्नता साबित करता हो। प्रमाण तो इससे विपरीत ही मिलते हैं और वे दोनों संप्रदायकी मूर्तिकी एकताको सिद्ध करते हैं। यदि प्रथमसे ही दोनों संप्रदायकी मूर्तियां भिन्न भिन्न होतीं तो श्वेताम्बरों और दिगम्बरोंके लिये एकही तीर्थपर आकर एकही मूर्तिके स्नात्रादि विधिविधान करनेके जो उल्लेख मिलते हैं वे किस तरह मिल सकते थे? श्वेताम्बर संघपति पेथड़का संघ और दिगम्बर संघपति पूनजी (पूर्ण) अग्रवालका संघ ये दोनों ही गिरनारपर एक साथ ही चढ़े थे और दोनों संघके लोगोंने श्रीनेमिनाथकी मूर्तिका सहर्ष स्नात्र वगैरह किया था (देखो सुकृतसागर, पृ० ३०-श्लो०२१-२२। यदि ये दोनों संघ एकसमान

मूर्त्तिको न मानते होते तो एक ही श्रीनेमिनाथ मूर्त्तिका (बिना कुछ परिवर्त्तन किये) स्नात्रादि किस तरह कर सकते थे? वस्तुपालके संघमें २००० श्वेताम्बर साधु और ११०० दिगम्बर भट्टारक गये थे, उन्हें मार्गमें देवदर्शनके लिये मंदिरोंकी आवश्यकता पड़े यह संभवित ही बात है, परन्तु वस्तुपालने अपनी संघसामग्रीमें एक भी दिगम्बर प्रतिमा साथ ली हो ऐसा उल्लेख नहीं मिलता, इससे यह साबित होता है कि जो मंदिर वस्तुपालने अपने साथ लिये थे उन्हीं के द्वारा दिगम्बर भट्टारक भी जिनदर्शन करते थे। इससे यह बात भी सिद्ध होसकती है कि वस्तुपालने अपने साथ ली हुई प्रतिमायें और मंदिर दोनोंको (श्वेताम्बर मुनियों और दिगम्बर भट्टारकोंको) मान्य और पूज्य होने चाहियें। यदि श्वेताम्बर दिगम्बरोंका मूर्त्ति साम्य न होता तो श्वेताम्बर वस्तुपालके संघमें दिगम्बर भट्टारकोंकी स्थितिका पोषण किस तरह होसकता था? (देखो उपदेशतरंगिणी पृ० २४७) इस सम्बन्धमें श्रीधर्मसागरजी अपने प्रवचन परीक्षा नामक ग्रन्थमें निम्न प्रकारसे उल्लेख करते हैं।

अथ दिगम्बरैः सह संभावित भावि विवादभञ्जनाय

संघेन यत् कृतं तदाह—

मा पडिमाण विवाओ होहि त्ति विचिंतिऊण सिरिसंघो।
कासी पल्लवचिंधं नवाण पडिमाण पयमूले ॥ ६७ ॥
तं सोउणं रुट्ठो दुट्ठे खमाणो वि कासि न गिणत्तं ।
निअ पडिमाणं जिणवरविगोवणं सो विगयसन्नो ॥ ६८ ॥
तेणं संपइपमुहप्पडिमाणं पल्लवंकणं नत्थि ।
अत्थि पुण संपईणप्पडिमाणं विवाय कालाओ ॥ ६९ ॥
पुव्विं जिणपडिमाणं नगिणत्तं नेव न वि पल्लवओ ।
तेणं नाऽऽगारेणं भेओ उभएसिं संभूओ ॥ ७० ॥

प्रतिमा संबन्धी कलहो मा भूद् इत्यमुना प्रकारेण विचिन्त्य पर्यालोच्य, श्रीसंघो नवीनप्रतिमानां अद्यप्रभृति निर्मीयमाणानां जिनप्रतिमानां पदमूले पादसमीपे पल्लवचिन्हं वस्त्रपट्टलिका लक्षणं लाञ्छनमकार्षीत्—कृतवान् ॥ ६७ ॥ अथ श्रीसंघकृत्यमधिगत्य दिगम्बरो यद् व्यधात् तदाह—तत् श्रीजिनेन्द्र प्रतिमानां पदमूले श्रीसंघकृतं पल्लवचिन्हं ज्ञात्वा दुष्टक्षपणको रुष्टः क्रोधाविष्टः सन्ः × निजानां स्वायत्तानां जिनप्रतिमानां नग्नत्वं दृश्यमानलिङ्गाद्यवयवत्वमकार्षीत्—अयं भावः-अहो ! अस्मन्निश्रितप्रतिमाकारतो भिन्नताकरणाय यदि श्रीसंघेन पल्लवचिन्हमकारि, करिष्यामस्तर्हि वयमपि श्वेताम्बरप्रतिमातो भिन्नत्वकरणाय किंचिच् चिन्हमिति विचिन्त्य मत्सरभावेन जिनप्रतिमानां नग्नत्वं विहितम् । श्वेताम्बरेण स्वयं

वस्त्रधारित्वाद् वस्त्रचिन्हं कृतम्, दिगम्बरेण स्वयं नग्नत्वात् नग्नत्वमेव ॥ ६८॥ अथ मुग्धजनप्रत्यायनाय तच्चिन्हमाह—येन कारणेन विवादे समुत्पन्ने पल्लवचिन्हं प्रतिमासु संवृत्तं तेनैव कारणेन संप्रतिप्रमुखप्रतिमानां विवादात् पूर्वकालभाविनीनां त्रिखण्डाधिपतिसंप्रतिनृपप्रभृति निर्मापितानां जीर्णप्रतिमानां पल्लवाङ्कनं अञ्चलचिन्हं नास्ति न विद्यते, अस्ति विद्यते पुनः सांप्रतीनप्रतिमानां आधुनिकजिनप्रतिमानां पल्लवाचिन्हमिति सांप्रतीनं तत् ×उज्जयन्तगिरिमाश्रित्य दिगम्बरैः सह विवादकालात् ॥ ६९ ॥ अथ विवादकालात् पूर्वं किमासीत् ? तदाह—पूर्वं विवादात् पूर्वकालं जिनप्रतिमानां नैव नग्नत्वं, नाऽपि च पल्लवकोऽञ्चलचिन्हम्, तेन कारणेन जिनप्रतिमानां उभयेषां श्वेताम्बर-दिगम्बराणां भेदो भिन्नत्वं न संभृतो नासीत्—सदृश आकार आसीत् ॥ ७० ॥" (प्रवचनपरीक्षा—लि० पा० ३७-३८)

कहा जाता है कि गिरनार पर्वत किसकी मालकीयतका है इस सम्बन्धमें श्वेताम्बर और दिगम्बरोंके बीच एक दफा कलह उत्पन्न हुवा था। उस पर्वतपर मन्दिर और मूर्तियां सब समानाकार होनेसे इससे पर्वतपर मालकीयत किसकी है इस विषयमें निर्णय होना अवश्य था। यात्रा और पूजाके लिये दोनों सम्प-

दायके लोग उस पर्वतपर बहुत समयसे आया जाया करते थे, पर्वतका स्वामित्व किस सम्प्रदायका है इस बातका शीघ्र निर्णय नहीं हो सकता था। इस दुर्गम निर्णयके लिये श्वेताम्बरोंके कायोत्सर्गके प्रभावसे शासनदेवी प्रगट हुई और उसने फैसला किया ? कि इस तीर्थका स्वामित्व श्वेताम्बरोंका है। अभीतक दोनों संम्प्रदायकी मूर्तिका आकार और पूजाका प्रकार एकसरीखा होनेसे फिर भी ऐसा कलह होनेका भय था, इससे श्वेताम्बरसंघकी ओरसे इसके बाद बनाई गई प्रत्येक जिनप्रतिमाके पैरके पास वस्त्रकी पट्टीका निशान कराया गया था। यह देखकर इसी भयसे दिगम्बरोंने भी अपने अधिकारमें आई हुई प्रत्येक प्रतिमापर नग्नताका चिन्ह बना दिया *श्वेताम्बरोंने स्वयं वस्त्रधारी होनेसे प्रतिमाओंको भी वस्त्रधारी बनाई थीं और दिगम्बर स्वयं नग्नताके हिमायती थे अतः

---

*यदि आज श्रीवर्धमानस्वामी विद्यमान होते तो श्वेताम्बरी उन्हें वस्त्र पहनाते, स्थानकवासी भाई तदुपरान्त मुखपर मुखपत्ती बांधनेका आग्रह करते और दिगम्बरी महानुभाव नग्न ही रखनेका हट करते। परन्तु यह ठीक ही हुवा कि उस महापुरुषका निर्वाण होगया।

उन्होंने अपनी प्रतिमाओंको नग्न रक्खी थीं। मूर्तिके सम्बन्धमें वस्त्र और नग्नताका विवाद इसी समयसे प्रारंभ हुआ था। इससे पहिले समयकी प्रतिमाओंमें किसी तरहका विशिष्ट निशान न था, इसी कारण वे प्रतिमायें राजा संप्रति द्वारा बनाई हुई कही जाती हैं, उनमें कहीं पर भी इस प्रकारकी निशानी नहीं मिलती और जो प्रतिमायें उस विवाद समयके बादकी अर्वाचीन हैं उनमें ये दोनों तरहकी निशानी पाई जाती हैं, अर्थात् विवाद समयसे पहिले जिनप्रतिमाओंमें नग्नत्व न था एवं वस्त्रधारित्व भी न था। इससे इन दोनों संप्रदायकी जिनप्रतिमाओंका आकार एकसरीखा था, उनमें कहीं पर भी कुछ भेद न था"

श्रीधर्मसागरजीने इस विवादके समयका उल्लेख नहीं किया तथापि उपदेशतरंगिणी में २४८-२४९ वें पृष्ठपर दिये हुये उल्लेखसे स्पष्टतया मालूम हो सकता है कि वह विवाद जूनागढ़के राजा खेंगारके राज्यकालमें आम राजाके गुरु बप्पभट्टि सूरिके समय हुआ था जो समय विक्रमकी नवमी शताब्दीका प्रारंभ था। उपरोक्त अनेक प्रमाणोंसे यह बात स्पष्ट होती

है कि मूर्तियोंकी नग्नता और वस्त्रधारिता बादमें ही बनाई गई है। हमारे दोनों संप्रदायमें नवमी शताब्दीके प्रारंभमें ही यह भेद दाखिल हुआ है। इससे पहिले हमारे दोनों भाइयोंकी मूर्ति और मूर्तिपूजा एकसरीखी ही थीं, इसके प्रमाणोंकी अब कुछ कमी नहीं है। वास्तविक स्थिति ऐसी होनेपर भी वर्तमानमें ही हम मूर्ति और तीर्थोंके लिये परस्पर विषकी घृष्टि कर रहे हैं। मुझे इसका कारण हमारे दोनों साम्प्रदायिक धर्मनेताओंके कदाग्रहके सिवा अन्यकुछ नहींदेख पड़ता। मैंसुनता हूँ यदि उस प्रकार श्वेताम्बरऔर दिगम्बर मूर्तिपूजाकरते हों तो वैसी मूर्तिपूजा न करनेमेंही कल्याण है। मक्षीजीमें अंग्रेज सरकारने श्वेताम्बर और दिगम्बरोंके लिये पूजा करनेका समय नियत किया हुआ है। तदनुसार श्वेताम्बरोंकी पूजा हुये बाद दिगम्बर भाई पधारते हैं और वे मूर्तिपर लगाये हुये चक्षु तथा श्वेताम्बरोंकी की हुई पूजाको रद्द करते हैं फिर इन्द्र पूज्य बननेकी आशासे खुश होते हुये हमारे श्वेताम्बरोंकी पूजाकी बारी आनेपर वे उस मूर्ति पर फिरसे चक्षु और टीका आदि लगा देते हैं। इस प्रकारका विधि किये बाद ही वे दोनों भाई

अपनी २ की हुई पूजाको पूजारूप मानते हैं। परन्तु मैं तो इस रीतिको तीर्थंकरकी मजाक और आशातनाके सिवा अन्य कुछ भी नहीं मानता। यह तो संसारमें दो स्त्रीवाले भद्र पुरुषकी जो स्थिति होती है उसी दशामें हमने अपने वीतराग देवको पहुँचा दिया है, यह हमारी कितनी कीमती प्रभु भक्ति है ??? ऐसी भक्ति तो इन्द्रको भी प्राप्त नहीं होसकती ? मैं मानता हूँ कि यदि इस मूर्तिमें चैतन्य होता तो यह स्वयं ही अदालतमें जाकर अपनी इस कदर्थनीय स्थितिसे मुक्त होनेकी अपील किये विना कदापि न रहती। यह मूर्तिपूजा नहीं बल्कि उसका पैशाचिक स्वरूप है और तीर्थके साथ सम्बन्ध रखनेवाला क्लेश भी मूर्तिपूजाका राक्षसी स्वरूप है।

आगम-वाचनवाद

अब मैं अपने अन्तिम मुद्देपर चर्चा करके इस निबन्धको जो मेरी धारणा से अधिक लम्बा हो गया है समाप्त करूँगा। अन्तिम मुद्दा आगम वाचन वादका है, अतः मुझे यहाँपर जो कुछ बतलाना है वह निम्न प्रकारसे है।

साधुलोग कहते हैं कि गृहस्थोंको सूत्र पढ़ने का अधिकार नहीं है, गृहस्थ तो मात्र सूत्रोंका श्रवण ही कर सकते हैं और वह भी हमारे द्वारा ही। पाठको! आप स्वयं देख सकते हैं कि बीसवीं सदीके इन निर्ग्रन्थ महात्माओंकी कितनी सत्ता और शेखी है। वे इस विषयमें कुछ आज ही ऐसा नहीं कहते हैं, किन्तु इस सम्बन्धमें मैं प्रथम ही आपके समक्ष श्रीहरिभद्रसूरिके शब्दोंमें बतला चुका हूँ कि * चैत्यवासियोंमेंसे कितनेक व्यक्तियोंने उस समय यह पुकार उठाई थी कि श्रावकोंके समक्ष सूक्ष्म विचार न प्रगट करने चाहियें, अर्थात् जैसे ब्राह्मणोंने वेदका अधिकार

* "केइ भणंतिउ भण्णइ सुहुम वियारो न सावगाण पुरो,, संबोध प्र॰ पृ॰ १३—श्लोक २६

अपने लिये ही रखकर दूसरोंको उसके अनधिकारी ठहरा कर अपनी सत्ता जमाई थी, वैसे ही इन चैत्यवासियोंने भी आगम पढ़नेका अधिकार अपने लिये ही रिजर्व रक्खा और श्रावकोंको उसका अनधिकारी ठहराया था। यदि वे श्रावकोंको भी आगम पढ़नेकी छूट दे दें तो अंग ग्रंथोंको पढ़कर जो धन वे स्वयं उपार्जन करना इच्छते थे वह किस तरह बन सकता था? तथा अंगग्रंथोंके अभ्यासी श्रावक उनका दुष्टाचार देखकर उन्हें किस तरह मान देते? इस प्रकार श्रावकोंको आगम पढ़नेकी छूट देनेपर अपने ही पेटपर लात लगनेके समान होनेसे और अपनी सारी पोल खुलजानेका भय होनेके कारण ऐसा कौन सरल पुरुष होगा कि जो अपने समस्त लाभको अनायास ही चला जाने दे? पूर्वोक्त हरिभद्रसूरिके उल्लेखसे यह भली भांति मालूम होता है कि श्रावकोंको आगम न बांचने देनेका बीज चैत्यवासियोंने ही बोया है और आज तक वह उसी तरहका सड़ा हुआ पानी पीपीकर इतना बढ़ गया है कि अब हमें अवश्य ही उसका विच्छेद करना पड़ेगा।

मुझे इस अन्तिम मुद्देको दो भिन्न २ दृष्टि-

यों द्वारा स्पष्ट करना है। एक तो भाषादृष्टि और दूसरी शास्त्र दृष्टि है। वैदिक धर्मानुयायियों की तरफ़से हमपर यह आक्षेप किया जाता है कि संस्कृत जैसी प्रौढ़ भाषाको छोड़कर जैनियों ने जो अपने मूलग्रन्थ प्राकृत भाषामें लिखे हैं उसका कारण उनकी संस्कृतसे अनभिज्ञता होनी चाहिये। परन्तु इस आक्षेपकी निर्मूलता बतलाते हुये हमारे महर्षि कहते हैं कि "बाल स्त्री वृद्धमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम् ॥ उच्चारणाय तत्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ॥"

(तत्व निर्णय प्रासाद पृ० ४१३)

इस श्लोक परसे यह बात स्पष्ट होती है कि बालक, स्त्री, वृद्ध, और मूर्ख लोगोंके लिये अर्थात् आबाल गोपाल सभी विना प्रयास श्रीवर्धमानके प्रवचनका उच्चार कर सकें एवं अच्छी तरह समझ सकें इसी हेतुसे आगमको प्राकृत जैसी सर्व देशीय सरल और मधुर भाषा में संकलित किया गया है। यदि उस प्रवचन-आगमको पढ़नेका अधिकार मात्र मुनियोंको ही होता तो उन ऋषियोंको यह श्लोक लिखनेकी क्या आवश्यकता थी ?

प्रभावक चरित्रमें कहा है कि चौदह पूर्व

संस्कृत भाषामें थे, वे कालके प्रभावसे उच्छिन्न—नष्ट होगये, इस समय सुधर्मस्वामी भाषित एकादशांग सूत्र हैं जिन्हें उन्होंने बाल, स्त्री, वृद्ध और मूर्ख आदि मनुष्यको भी उनका लाभ मिल सके ऐसी अनुग्रह बुद्धिसे प्राकृतमें रचे हैं।

१ दशवैकालिक टीका तथा धर्मविंदुवृत्ति, ॥
२ चतुर्दशाऽपि पूर्वाणि संस्कृतानि पुराऽभवन्॥ ११४॥
प्रज्ञातिशय साध्यानि तान्युच्छिन्नानि कालतः।
अधुनैकादशाङ्ग्यस्ति सुधर्मस्वामि भाषिता॥ ११५॥

इसी बातको निम्न लिखित गाथा भी पुष्ट करती है यत उक्तमागमे—

मुत्तूण दिट्ठिवायं कालिय-उक्कालियंग सिद्धंतं ॥
थी-बालवायणत्थं पाइयमुइयं जिणवरेहिं ॥

इस गाथामें तो 'स्त्री और बालकोंको पढ़नेके लिये अंगों-आगमोंको प्राकृतभाषामें रचा गया है ऐसा सबसे स्पष्ट उल्लेख है। तथा विशेषावश्यक और उसकी मलधारीकृत टीकामें भी निम्न प्रकारका स्पष्ट उल्लेख मिलता है, जिसमें खुल्लम खुल्ला श्रावकोंका भी निर्देश किया हुवा है।

"तेषु च निश्शेषमपि वाङ्मयमवतरति। अतश्चतुर्दशपूर्वात्मकं द्वादशमेवाङ्गमस्तु, किं शेषाङ्गविरचनेन, अ-

ङ्गबाह्यश्रुतरचनेनवा ? ×× तत्र यद्यपि दृष्टिवादे सर्वस्याऽपि वाङ्मयस्याऽवतारोऽस्ति, तथापि दुर्मेधसां तदवधारणाद्ययोग्यानां मन्दमतीनां, तथा श्रावकादीनां स्त्रीणांचानुग्रहाय निर्यूहणा विरचना शेषश्रुतस्येति-(विशेपा० पृ० २६८-२६६, गा ५५१).

अर्थात् यदि सब अंगोंका सार बारहवें अंग दृष्टिवादमें समा सकता हो तो फिर उन अंगोंको जुदा रचनेकी क्या जरूरत है ? इस प्रश्नके समाधानमें श्रीजिनभद्रसूरिने कहा है कि "यद्यपि दृष्टिवादमें समस्त वाङ्मय समा जाता है तथापि जो लोग दुर्मेधस-कम बुद्धिवाले हैं उनके और स्त्रियोंके लिये यह सारा श्रुत रचा गया है" जिनभद्रसूरिकृत इस गाथापर की गई टीकामें बतलाया है कि "दुर्मेधस याने जो दृष्टिवादको समझने जितनी बुद्धि नहीं रखते उनके तथा श्रावकादि और स्त्रियोंके लिये बाकीका अंगश्रुत या अन्यश्रुत रचा गया है।" ऊपर बतलाये हुये एकसे अधिक पुष्टप्रमाणोंसे यह बात स्पष्टतया सिद्ध होती है कि आगमोंकी प्राकृतभाषा इसी लिये रक्खी गई है जिससे उसके द्वारा आबाल

---

१ जइ विय भूयावाए सव्वस्स वओमयस्स ओआरो ।
निज्जूहणा तहावि हु दुम्मेहे पप्प इत्थीय ॥ ५५१ ॥

गोपाल उन्हें आसानी से पढ़कर लाभ उठा सकें। इस प्रकार हम भाषादृष्टिसे आगम प्रमाण पूर्वक गृहस्थियोंको आगमपढ़नेका अधिकार साबित कर सकते हैं। शास्त्रीय दृष्टि भी इस अधिकारको पुष्ट करती है। इस विषयमें मैं यह कहता हूँ कि यदि श्रावकोंको आगमपढ़नेका अधिकार न होता तो उस विषयका निषेधात्मक उल्लेख किसी अंगसूत्रग्रन्थमें क्यों नहीं मिलता? आचाराङ्ग सूत्रमें साधुओंके अनेक तरहके आचार विहित किये हैं, उसमें कहींपर भी भिक्षुने या भिक्षुणीने श्रावकोंको आगम न पढ़ाना ऐसा उल्लेख क्यों नहीं मिलता? कदाचित् कोई यह कहे कि सूत्र ग्रन्थोंमें श्रावकोंको लब्धार्थ गृहीतार्थ, पृष्टार्थ और विनिश्चितार्थ कहकर सम्बोधित किया है, इससे वे मात्र अर्थके ही अधिकारी हो सकते हैं परन्तु सूत्रके अधिकारी नहीं। इस विषयमें मैं कुछ कहूं इसकी अपेक्षा हरिभद्रसूरिजीका कथन विशेष न्यायोपेत गिना जायगा। जब चैत्यवासियोंने कहा कि श्रावकोंके सामने सूक्ष्म विचार न कहने चाहियें उस समय इस बातकी अयुक्तता सिद्ध करते हुये हरिभद्रसूरिने अपने सम्बोध प्रकरणके १३ वें पृष्ठ पर

कथन किया है कि "तं न जओ अंगाइसु सुव्वइतव्व-न्नणा एवं ॥ २६ ॥ लद्धट्ठा, गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा विणि-च्छियट्ठाय । अहिगयजीवाजीवा अचालणिज्जा पवयणाओ,, ॥ २७ ॥

अर्थात् चैत्यवासियोंका उपरोक्त कथन अयुक्त है, क्योंकि अंगसूत्रोंमें श्रावकोंको लब्धार्थ, गृहीतार्थ, पृष्टार्थ, विनिश्चितार्थ, जीवाजीवके जाननेवाले और प्रवचनसे अचलनीय वर्णित किया है, इससे वे सूक्ष्मविचारोंको भी जाननेके अधिकारी हैं। जिन विशेषणों द्वारा श्रीहरिभद्र जी श्रावकोंको सूक्ष्म विचारोंके परिज्ञानका अ-धिकारी साबित करते हैं उन्हीं विशेषणों द्वारा हमारे धर्मगुरु हमें सूत्रपढ़नेका अनधिकारी बतलाते हैं। जिन सूत्रोंमें बिलकुल सादी और सरल बातें लिखी हुई हैं उन सूत्रोंमें ऐसा विषय क्वचित् ही आता है जो गुह्य, सूक्ष्म और गोप्य हो। इस विषयमें मैं प्रथम बतला चुका हूँ कि जब श्रावकोंको इन विशेषणोंसे संबोधित किया गया था उस समय सूत्रग्रन्थ लिपिबद्ध नहीं हुये थे, इससे श्रावक उन अरण्यवासी मुनियोंके पास जाकर भगवान महावीरका प्रव-चन सुना करते थे और उस श्रवण किये हुये

प्रवचनको स्वनामके समान कंठस्थ रखते थे। साधु भी ऐसा ही करते थे। समवायांगसूत्रमें उपासकदशांग सूत्रके विषयका उल्लेख करते समय उपासकोंके श्रुतपरिग्रह–श्रुताभ्यास भी वर्णित किये गये हैं। उपासकोंके वे श्रुतपरिग्रह इस बातको स्पष्ट रूपसे साबित करते हैं कि उस समयके श्रावक भी श्रीवर्द्धमान भगवानके प्रवचनको कंठस्थ रखते थे। यदि उन्हें वैसा करनेमें अधिकारी न माना गया होता तो उस समय सूत्रोंके सिवा ऐसा कौनसा श्रुत था जिसको वे स्वीकार कर सकते थे? सूत्रोंमें ऐसा भी कहीं पर उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध होता हो कि कोई श्रावक बारह अंगोंका पाठी हो, परन्तु इससे वे कुछ उसके अनधिकारी साबित नहीं होसकते, क्योंकि श्रावकको जितना श्रुत उपयोगी हो उतना ही वे पढ़ते हों इससे कदाचित् उन्हें सम्पूर्ण ग्यारह या बारह अंग सीखनेकी आवश्यकता न पड़ी हो। साधुओंका तो स्वाध्याय ही व्यवसाय होनेके कारण वे ग्यारह या बारह अंगोंको सीखें या पढ़ें तो इसमें कोई नई बात नहीं है। सूत्रोंमें जहाँपर स्वप्न पाठकोंका वर्णन आता है वहाँ सब जगह उन्हें गहीयट्ठा,

लद्धट्ठा, आदि संबोधनोंसे संबोधित किया है। यदि इन विशेषणों या संबोधनोंका यही अर्थ हो जैसा कि हमारे कुलगुरु बतलाते हैं तो फिर इन विशेषणोंसे श्रावकोंके समान वे स्वप्न पाठक भी स्वप्नशास्त्रको मात्र सुनकर ही पंडित हुये होने चाहियें, परन्तु स्वयं पढ़कर नहीं। यह बात संभव नहीं कि कोई मनीषी मनुष्य स्वप्न शास्त्रियोंके लिये यह कहे कि उन शास्त्रोंका अध्ययन किये बिना मात्र अर्थको सुनकर ही वे शास्त्री बन गये हैं। तथा अर्थको प्राप्त करनेकी मात्र सुनना ही एक रीति नहीं है, क्योंकि पढ़ने से भी अर्थ प्राप्त किया जासकता है, अतः ऊपर बतलाये हुये गहीयट्ठा आदि विशेषण पढ़नेवाले-वाचनेवालेको भी लागू पड़ सकते हैं इस लिये पूर्वोक्त संबोधनों-या विशेषणोंसे श्रावक सूत्रके अनधिकारी सिद्ध नहीं होसकते। यह तो सूत्र पढ़कर धन कमानेवाले चैत्यवासियोंने ही उन्हें सूत्रके अनधिकारी ठहराये थे और तब से लेकर ये भद्रिक श्रावक आज तक परतन्त्रता की जंजीरोंमें जकड़े हुये बेचारे विचार शून्यसे हो बैठे हैं। प्रतिदिन तीन खमासमणों दे देकर अपने स्वामियोंको सुखसाता पूछा करते हैं,

परन्तु इसका परिणाम परतन्त्रताकी वृद्धिके सिवा अन्य कुछ नहीं आता। कितनेक कहते हैं कि साधुओंको भी अमुक २ वर्षका दीक्षापर्याय होनेपर ही अमुक २ सूत्र पढ़नेका अधिकार है तब फिर श्रावकोंके अधिकारकी तो बात ही क्या ? जहाँ तक मैंने खोज की है उस से यह साबित होता है कि यह पर्याय वादका विधान भी चैत्यवासियोंके समयका ही है; क्यों कि मैंने सूत्रग्रंथोंमें बहुतसे श्रमणोंके चरित्र पढ़े, हैं उनमें उन्होंने इस क्रमकी मर्यादाका पालन किया हो यह मालूम नहीं होता। इससे यह साबित होता है कि अमुक दीक्षापर्यायवाला ही अमुक सूत्रका अध्ययन करे यह विधान प्राचीन नहीं किंतु अर्वाचीन है तथा यह पद्धति एवं कठिन तपरूप उपधानोंकी पद्धति भी उन चैत्यवासियोंको पीछे हटानेके लिये ही रची गई है और उसका प्रारम्भ भी तबसे ही हुआ है। यदि ये दोनों रीति प्राचीन और विधि विहित होतीं तो सूत्रग्रन्थोंमें उसका उल्लेख अवश्य मिलता और सूत्रोंमें वर्णित आदर्शमुनि भी उसका अनुसरण करते। सूत्रोंमें वर्णित किये गये मुनियोंके चरित्रमें कहीं भी इस बातका उ-

लेख नहीं मिलता कि उन्होंने उपधान (योगोद्व-हन) करके ही सूत्र पढ़े हों, इस लिये यह प्रकार भी अर्वाचीन और अविहित है। जहाँ २ पर साधुओंके सूत्राभ्यासका उल्लेख मिलता है वहाँ कहींपर उन्होंने सूत्रोंके पढ़नेसे पहिले योगोद्वहन किया हो ऐसी गंधतक भी नहीं आती। मैं मानता हूँ कि जो श्रमण-निर्ग्रन्थ निरन्तर योगानिष्ट, तपस्वी, अकषायी, और सुविनीत हों उन्होंके लिये योगोद्वहन का विधि सर्वथा निरर्थक है। परन्तु जो श्रमण श्रीहरि-भद्रसूरिने बतलाये वैसे हों उन योगच्युत उदरम्भरी साधुओंके लिये यह योगोद्वहनकी प-द्धति उचित होसकती है और ऐसा होनेसे ही मुझे यह बतलाना पड़ा है कि इस पद्धतिका समय चैत्यवासका समवर्त्ति है। सूत्रोंमें जो साधुओंके सूत्राभ्यासके उल्लेख मिलते हैं उनमें से थोड़ेसे नीचे देता हूँ—

१. "तए णं से खंदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइय माइयाइं एक्कारस अंगारे अहिज्जइ"—भगवतीसूत्र अजीम पृ० १६५

२. "एत्थ णं से कालोदायी संवुद्धे × एवं जहा खंदए तहेव पव्वइए तहेव एक्कारस अंगाणि"—भग० अ-

जीम० पृ० ५१४.

३. "(उसभदत्तो) एएणं कमेणं जहा खंदओ तहेव पव्वइए जाव० सामाइय माइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ"—भग० अजीम० पृ० ७६६.

४. "तए णं सा देवाणंदा अज्जा अज्जचंदणाए अज्जाए अंतियं सामाइय माइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ"—भग० अजीम० पृ० ७६७.

५. "तुमं गोसाला! भगवया चेव पव्वाविए, × भगवया चेव बहुस्सुईकए" भग० अजीम० पृ० १२४७.

इसके अतिरिक्त ऐसे अन्य भी अनेक उल्लेख मिलते हैं, परन्तु वे सब एक सरीखी रीतिसे लिखे होनेके कारण उनमेंसे एकमें भी पर्यायक्रम या योगोद्वहनकी छींट तक मालूम नहीं देती।

मैं प्रथम बतला चुका हूँ कि चैत्यवासियों को पीछे हटानेके लिये किसी दक्ष पुरुषने तीव्र तपश्चर्यारूप उपधान या योगोद्वहनकी नींव डाली है या उन चैत्यवासियोंने ही उस समय के श्रावकोंको यह समझाया हो कि योगोद्वहन किये बिना हमें भी सूत्र पढ़नेका अधिकार नहीं है और उपधान किये सिवा श्रावकोंको नवकार बोलनेका भी अधिकार नहीं तो फिर श्रावकोंके

सूत्र पढ़नेकी तो बात ही क्या ? इस प्रकार समझाकर उन्होंने भद्र श्रावकों से उपधानके कर रूपमें मिलते हुवे द्रव्य को हड़प करनेका प्रपञ्च रचा हो तो यह संभवित है। चाहे जो हो परन्तु उपधानकी सामुदायिक वर्तमान पद्धति जो हलवाईकी दुकानके समान मादक और मोहक है वह चैत्यवासियोंके समयकी है इसमें जरा भी संदेहको स्थान नहीं। उपधानके विषयमें किसी भी अंग सूत्रमें कुछ सुराक नहीं चलता, मात्र महानिशीथ सूत्र जो अंगसूत्रोंसे बाहिर का है और जो चैत्यवासियोंकी हलकी स्थितिमें संकलित किया गया है उसमें ही इस उपधान आदिका कुछ उल्लेख मिलता है। यह सूत्र अंग सूत्रोंके समान सर्वमान्य नहीं समझा जाता। प्राचीन आचार्योंमें भी इस सूत्रकी प्रमाणिकता के लिये भारी मतभेद हो चुका है (देखो शतपदी और महानिशीथ) यदि कदाचित् हम अन्य बातोंको छोड़कर इस बातपर ही विचार करें कि सूत्र ग्रन्थोंमें सूत्र पढ़ने वालोंमेंसे किसी ने उपधान आदि किया हो यह उल्लेख नहीं मिलता एवं सूत्रगत आचारके नियमोंमें इस पद्धतिके वर्णनका गन्धतक नहीं तो यह उपधा-

नादिका विधान महानिशीथ सूत्रमें--वह भी एक छेद सूत्र और आपवादिक मार्गदर्शक सूत्रमें कहाँसे आया ? इन सब बातोंका विचार करने पर हमें विवश होकर यह कबूल करना पड़ता है कि यह उपधान विधान आदि उन चैत्यवासी बाबाओंकी उपजाऊ कल्पवल्ली है और इसी कारण यह उनके समयके ग्रन्थमें लिखी हुई है। यदि हम साधारण धार्मिक दृष्टिसे विचार करें तो भी यह मालूम होगा कि जिन सूत्रग्रन्थों में काष्ठकी पुतलीको भी देखना निषेध किया है वे ही सूत्र ग्रन्थ नित्य मादकभोजी साधुओं को मादकभोजी युवती और विधवाओंके टोले में रहकर उपधानकी क्रिया करानेकी अनुमति देसकते हैं? वर्तमान समयमें तो उन्हीं सूत्रों को माननेवाले पंन्यास और आचार्य तीन २ सौ एवं चार २ सौ स्त्रियोंके यूथमें यह क्रिया करा रहे हैं जिसे हम धर्म मानते हैं। कैसी शिष्टता ? कैसी शील समिति ?? और कैसा भयंकर छिपा हुवा धार्मिक अनाचार है ? जो चैत्यवासियोंपर स्त्रीपरिचयका बारम्बार आक्षेप श्रीहरिभद्रसूरिने अपने सम्बोध प्रकरणमें किया है, उसका नमूना इस उपधान पद्धतिमें हमें प्रत्यक्ष

देख पड़ता है, इससे मैं दृढ़ता पूर्वक कह सकता हूँ कि यह रीति उनकी रासस्थली भी हो !!!

स्थानाङ्ग सूत्रमें एक जगह सूत्रपढ़ाने के कारण बतलाते हुए लिखा है कि पंचहिं ठाणेहिं सुत्तं वाएज्जा तं जहा–१ संगहट्ठाए, २ उवसग्गहट्ठाए, ३ निज्जरट्ठाए, सुत्ते ४ वा मे पज्जवयाए भवस्सति सुत्तस्स वा अव्वोच्छिछत्तिणयट्ठताए,, (लिखित पाठ० ६८–६६। भांडारकर।

इस उल्लेखमें ज्यों सूत्र पढ़ानेके अन्य कारण बतलाए हैं त्यों उपग्रहको भी कारण कोटिमें रक्खा है। उपग्रहके अर्थको स्पष्ट करते हुये टीकाकारने बतलाया है कि 'जो आहार, पानी और वस्त्र आदिको पैदा करनेमें समर्थ हों उन्हें सूत्र पढ़ाकर उपग्राहित करना,, यहाँ पर आप देख सकते हैं कि यह उल्लेख तो बिलकुल स्पष्टतया गृहस्थियोंके ही लिये लिखा गया है, गृहस्थी ही आहार, पानी और वस्त्र आदि पैदा करके साधुओं को देते हैं, वे ही अपने पसीनेकी कमाईसे साधुओंका पोषण कर रहे हैं अतः सूत्रकार तथा टीकाकार साधुओं को बदलेकी नीतिकी सूचना करते हैं कि वे गृहस्थोंको सूत्र पढ़ाकर उपग्राहित-आभारी करें।

यह बात सर्वथा स्पष्ट होते हुये भी वर्तमानमें श्रावकोंके के धनसे पोषित होनेवाले निर्ग्रन्थ (१) महाशय श्रावकों को कैसा बदला देरहे हैं यह बात आप और मुझसे छिपी हुई नहीं है। इससे बढ़कर और भी ऐसे अनेक प्रमाण मेरे देखनेमें आये हैं जो सीधे तौरसे या रूपान्तर से श्रावकों की सूत्राधिकारिताको सूचित कररहे हैं, परन्तु स्थान संकोचके कारण उन सबका यहाँपर उल्लेख न करके मैं इस मुद्देको यहाँ ही समाप्त करता और साथही यह बात सप्रमाण कहे देता हूँ कि श्रावकोंको सूत्रपढ़नेके लिये जो निषेध किया गया है वह अयुक्त है, अप्रमाणिक है, अविहित है और सर्वथा श्रीजिनाज्ञाविरुद्ध है।

प्रिय पाठको ! अन्तमें मैं इतना कहता हूँ कि मैंने इस प्रस्तुत निबन्धमें अपने चारोंही मुद्दों को यथामति और यथाशक्ति आपके समक्ष रखनेका प्रयत्न किया है और साहित्य-विकार से वर्तमानमें हमारी क्या स्थिति हुई है यहभी यथामति स्पष्ट करनेका प्रयत्न सेवन किया है। ज्यों २ अपने इस कमनसीब समाजकी गिरी हुई दशाके विचार मेरे सामने आते हैं त्यों २ मुझे विशेष वेदना होती है और उस वेदनाको

शान्त करनेके लिये मैंने इस प्रकार पूर्वकालीन परिस्थिति का ऐतिहासिक चित्र आपके सन्मुख रक्खा है। जो आप सब इस विषयमें विचार करके बड़ोंके साथ परामर्श कर हमारे धार्मिक तथा सामाजिक रूढनियम जो वर्तमानमें हमारी उन्नतिके रोधक या बाधक होरहे हैं वे भविष्यमें वैसे न रहें इस प्रकारका योग्य प्रयास करेंगे तो मैं इस अपने प्रयासको सफल हुआ समझूंगा। अब राष्ट्रसेवाके समान धर्मसेवा भी हम श्रावकों पर ही आपड़ी है। हमने गुरुराज या स्वामिजीओंके विश्वासपर ही बहुतसा समय निभाया, परन्तु इससे हमारा कुछ भी उद्धार न हुआ, न होता है और अब होगा भी नहीं। प्यारे युवक पाठको! आप उठो और कमर कसलो,स्वार्थ त्यागके महामान्त्रिक महात्मा गान्धी जैसे महापुरुषकी सलाह लेकर विवेकवती और स्वतन्त्रतावाली प्रकृतिसे श्रीवर्धमानके प्रवचनको अधःपातके मुखसे बचाओ यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है। साथ ही शिष्टाचार पूर्वक मैं यह भी कह देता हूँ कि मैं अपने इस निबन्धको लिखते हुये कहीं स्खलित हुआ हूँ तो क्षन्तव्य हूँ। ॐ शान्तिः

पुस्तक मिलने के पते-

पूज्य मधुसूदन ऋषिका डेरा, चौड़ा बाजार,

लुधियाना, (पंजाब)

बाबू हीरालाल पन्नालाल बुकसेलर,

दरीबा कलां, देहली।